श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

तैत्तिरीयोपनिषत् ।

ब्रह्मानन्दवल्ली ।

आनंदमय वा रसात्मक पुरुषोत्तम ।

ब्रह्मवित् परने प्राप्त करे छे. एने माटे आ ऋक् कहेवायेली छे. सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म छे, जे परमाकाश गुहामां विराजेला तेने जाणे छे, ते विपश्चित्—ब्रह्मनी साथे सर्व कामनो भोग करे छे. ते आत्मामांथी आकाश प्रकट थयुं. आकाशमांथी वायु, वायुमांथी अग्नि, अग्निमांथी जल, जलमांथी पृथ्वी, पृथ्वीमांथी ओषधि, ओषधिमांथी अन्न, अन्नमांथी (अन्नमय) पुरुष. ते आ पुरुष अन्नरसमय छे. तेनुं आज शिर—मस्तक छे. आ दक्षिण—जमणो पक्ष—बाहु वा पांख छे. आ उत्तर—डाबो पक्ष छे. आ आत्मा छे, आ (एनुं) पुच्छ प्रतिष्ठा—आधार छे तेने वास्ते आ श्लोक छे. अन्नमांथी निश्चय प्रजा जन्मे छे—उद्भवे छे. पृथ्वीने आश्रये रहेली सर्व प्रजा अन्नमांथी उद्भवे छे. पछी अन्नथीज जीवे छे, अने अन्नमां ज लय पामे छे. माटे ज अन्न ज भूतोमां ज्येष्ठ छे. माटे एने सर्वौषध कहे छे. सर्वनुं औषधरूप छे. जेओ अन्न ब्रह्मनी उपासना करे छे, तेओ सर्व अन्न प्राप्त करे छे. अन्न भूतोमां ज्येष्ठ छे. माटे एने सर्वौषध कहे छे. अन्नमांथी भूतो प्रकट थाय छे. प्रकट थयेला अन्नथी ज वृद्धि पामे छे. अने ते भूतोने पोताना अन्न ज भक्षण करे छे. माटे एने अन्न कहे छे. भूतोथी एने पोषण थाय छे. अने भूतोनुं ए पोषण छे. माटे ज एने अन्न कहे छे.

(प्राणमय) ते आ अन्नरसमय पुरुषथी अन्य अन्तर—भीतर विराजतो आत्मा प्राणमय छे. ते प्राणमयथी अन्नमय पूर्ण छे, व्याप्त छे, ते आ पुरुषविध छे. तेनी पुरुषविधताथी अन्नमय पुरुषविध छे. तेनुं—प्राणमय पुरुषनुं प्राण एज शिर छे—मस्तक छे, व्यान दक्षिण पक्ष छे, अपान उत्तर पक्ष छे, आकाश आत्मा छे, पृथ्वी पुच्छ प्रतिष्ठा—आधार छे. तेनो आ श्लोक छे. देवो प्राणमयनी पछाडी जीवे छे—श्वास ले छे. मनुष्यो अने पशुओ पण तेनी पछाडी जीवे छे. प्राण भूतोनुं आयुष छे. माटे एने सर्वायुष कहे छे. जेओ प्राण ब्रह्मनी उपासना करे छे तेओ सर्व आयुष्यनी प्राप्ति करे छे. प्राण ए भूतोनुं आयुष्य छे. माटे एने सर्वायुष कहे छे. तेनो (प्राणमयनो) आ (मत्प्रत्यक्ष) शारीर आत्मा छे, जे पूर्वनो अन्नरसमयनो पण आत्मा छे.

---

१ वेदांतमां आत्मशब्द मुख्यताथी परमात्मवाची छे. तेथी अत्र आ क्रमसृष्टिनुं कारण पण अक्षर ब्रह्म वा परब्रह्म ज छे. २ पक्षशब्द-अत्र श्रुति अन्नमयादि पंचने पुरुष तथा हंसरूपे वर्णवे छे. जेथी पुरुष अर्थ लईए त्यारे पक्षनो अर्थ बाहु करवो, अने ज्यारे हंसरूपे लईए त्यारे पक्षनो अर्थ पांख करवो.

(मनोमय). ते आ प्राणमयथी अन्य अन्तर आत्मा मनोमय छे. तेनाथी प्राणमय पूर्ण व्याप्त छे. ते आ पुरुषविध छे. तेनी पुरुषविधताथी प्राणमय पुरुषविध छे. मनोमयनुं यजुः शिर छे. ऋग् दक्षिण पक्ष छे. साम उत्तर पक्ष छे. आदेश आत्मा छे. अथर्वाङ्गिरस पुच्छ प्रतिष्ठा छे. तेनो आ श्लोक. ज्यांथी वाणी अने मन पाछां फरे छे. ब्रह्मनो आनंद जाणनार कोईथी भय पामतो नथी. तेनो—मनोमयनो आ शारीर आत्मा छे, जे प्राणमयनो पण आत्मा छे.

(विज्ञानमय). ते आ मनोमयथी अन्य अन्तर आत्मा विज्ञानमय छे. तेनाथी मनोमय पूर्ण छे—व्याप्त छे. ते आ पुरुषविध छे. तेनी पुरुषविधताथी आ मनोमय पुरुषविध छे. विज्ञानमयनुं श्रद्धा ए शिर छे. ऋत—प्रमीयमाण धर्म दक्षिण पक्ष छे. सत्य ए उत्तर पक्ष छे. योग आत्मा छे. महर्लोक पुच्छ प्रतिष्ठा छे. तेनो आ श्लोक छे. ते विज्ञान यज्ञने विस्तारे छे. कर्मोने पण विस्तारे छे. विज्ञान सर्वे देवताओ छे. . तेओ ब्रह्म ज्येष्ठने उपासे छे. विज्ञानब्रह्मने जे जाणे ते असावधान—प्रमाद करता नथी. शरीरमांना पाप त्यजीने सर्व कामोने भोगवे छे. तेनो आ शारीर आत्मा छे, जे मनोमयनो पण आत्मा छे.

(आनंदमय). ते आ विज्ञानमयथी अन्य अंतर आत्मा आनंदमय छे. आनंदमयथी आ विज्ञानमय पूर्ण छे. ते आ पुरुषविध छे. तेनी पुरुषविधताथी विज्ञानमय पुरुषविध छे. आनंदमयनुं प्रिय शिर छे. मोद दक्षिण पक्ष छे. प्रमोद उत्तर पक्ष छे. आनन्द आत्मा छे. ब्रह्म—पुच्छ प्रतिष्ठा छे. तेनो आ श्लोक छे. ब्रह्मने—आनन्दमयने—जे असद् जाणे छे ते असद् ज थाय छे. जे एने सद् जाणे छे सद् थाय छे. तेनो शारीर आत्मा छे—जे पूर्वनो छे.

अहि हवे आ प्रश्नो छे. जे (आ आनन्दमयने) जाणतो नथी तेज आ लोकनो त्याग करीने (परलोक) जाय छे ? अथवा पूर्वोक्त ब्रह्मने जाणनार (सर्व विद्वान्) आ लोकनो त्याग करीने ते लोकनो भोग करे छे.

(आ प्रश्नोनुं उत्तर आपे छे.) तेणे कामना करी. हुं बहु थाउं; प्रजा उत्पन्न करुं. तेणे तप कर्युं-विचार कर्यो-तेणे अभिध्यान विचार करीने आ सर्व सर्ज्युं; जे कांइ आ छे. ते सर्जीने तेमां ज पछी प्रवेश कर्यो. तेमां अनुप्रवेश करीने आप सत् (प्रत्यक्ष) अने त्यच् (अप्रत्यक्ष) थया; निरुक्त वाग्गोचर अने अनिरुक्त वाग्गोचर, निलयन आधार अने अनिलयन आधाररहित, (विज्ञान अने अविज्ञान,) सत्य अने अनृत, सत्य थयुं, जे कांइ आ छे, तेथी तेने सत्य एम कहे छे. तेनो आ श्लोक छे.

---

१. अहि प्रश्नशब्द बहुवचनमा छे. तेथी त्रण वा चार प्रश्न श्रुतिने विवक्षित छे. ब्रह्मविद्याना उपदेश थई रह्या पछी शिष्य गुरुने आवा प्रश्न करे छे. अत्र चार प्रश्न छे. बे प्रश्न स्पष्ट छे, ज्यारे बीजा बे शब्दसामर्थ्यथी प्राप्त थाय छे. प्रश्न ब्रह्मने नहि जाणनार कोई पण परलोकमा जतो नथी ? एने जाणनार सव ते लोकमा भोग करे छे ? बीजा बे सूचित आ छे. ब्रह्मने नहि जाणनार कोइ—सर्व ज परलोकमा जता नथी के कोइ पण जाय छे. ए एक. बीजो आ छे. ब्रह्मने जाणनार सर्व ज जाय छे के नहि, अथवा ब्रह्मने जाणनारामाथी कोइ एवा छे के नहि के जेने परलोकमा भोग प्राप्त थतो नथी. अथवा अहि बे प्रश्न छे, अने बाकीना भृगुवल्लीमा छे. एम पण बहुवचन घटे छे.

पूर्वे निश्चय आ असद्-अव्याकृत-अप्रकट हतु, तेमांथी आ निश्चय सद्-व्याकृत-प्रकट थयुं. तेणे आत्माने पोते ते कर्युं-भगवान् पोतेज पोताना आत्माने ते जगद्रूप कर्यो-तेथी ते सुकृत थाय छे. जे आ भगवाननी सृष्टि छे ते सुकृत छे.

ते प्रभु रस ज छे. रसनेज आनन्दमय प्रभुनेज प्राप्त करीने ज आ (जीव) आनन्दी थाय छे. कोण जीवी शकत, कोण प्राण धारण करी शकत जो आ आकाश-आनन्द न होत तो. एज आनन्दमय प्रभु आनन्दनुं दान करे छे. ज्यारे आ जीव आ अदृश्य, (जीवना स्वकृत प्रयत्नथी अदृश्य), अनात्म्य-रागद्वेषादिथी रहित, अनिरुक्त-अनिर्वचनीय-अनुभवथी जेने जाणी शकाय तेवा; अनिलयन-लयरहित एवा आनन्दमयमां अभययुक्त प्रतिष्ठा प्राप्त करे छे त्यारे ते अभय निर्भयता प्राप्त करे छे. ज्यारे अल्प पण अन्तर भेद करे छे त्यारे तेने भय थाय छे. आनन्दमा आत्मानो पण आत्मा छे तेने ज्यारे पोतांथी भिन्न जीव गणे त्यां सुधी तेने भय थाय छे. (आनन्दमय अने पोते भिन्न छे एम) भेद जाणनार अने माननारने भय थाय छे. तेनो आ श्लोक छे.

आना भयथी वायु वाय छे, भयथी सूर्य उदय पामे छे, भयथी अग्नि अने इन्द्र निज निज नियत कार्य करे छे. पांचमो मृत्यु-यम देवता पण निज कार्य करे छे.

आनंदनी आ मीमांसा थाय छे. वेदादिनुं अध्ययन करेलो निरोगी भोजनशक्तियुक्त, दृढ अंगयुक्त, अतिशय बलवान् कोई तरुण होय, तो आ सर्व पृथिवी वित्तथी पूर्ण तेनी थाय. आ एक मानुष आनंद छे. (मनुष्यना आनन्दनी आ पराकाष्ठा छे.) आवा शत मानुष आनन्द थईने मनुष्य गन्धर्वनो-श्रोत्रिय निष्कामनो-एक आनन्द गणाय. मनुष्य गन्धर्वना तेवा सो आनन्द मलीने देवगन्धर्वनो श्रोत्रिय निष्कामनो—एक आनन्द गणाय. देवगन्धर्वोना आवा सो आनन्द मलीने चिरलोक पितृओनो श्रोत्रिय निष्कामनो एक आनन्द गणाय. चिरलोकस्थायी पितृओना आवा सो आनंद मले त्यारे देवलोकमां उत्पन्न थयला श्रोत्रिय निष्काम देवनो एक आनन्द गणाय. देवलोकमां उत्पन्न देवना आवा सो आनन्द मले त्यारे श्रोत्रिय निष्काम कर्मदेवनो एक आनन्द गणाय. कर्मदेवना आवा सो आनन्द मली श्रोत्रिय निष्काम देवनो एक आनन्द गणाय. देवोना आवा सो आनन्द मलीने श्रोत्रिय निष्काम इन्द्रनो एक आनन्द गणाय. इन्द्रना आवा सो आनन्द मले त्यारे श्रोत्रिय निष्काम बृहस्पतिनो एक आनन्द गणाय. बृहस्पतिना आवा सो आनन्द मले त्यारे श्रोत्रिय निष्काम प्रजापतिनो एक आनन्द गणाय. प्रजापतिना सो आनन्द मले त्यारे श्रोत्रिय निष्काम ब्रह्मनो एक आनन्द गणाय.

ते आ जे पुरुषमां छे, आ जे आदित्यमां छे ते एक छे. जे आ जाणे छे ते आ लोक त्यजीने आ अन्नमय आत्माने प्राप्त करे छे, आ प्राणमय आत्माने प्राप्त करे छे, आ मनोमय आत्माने प्राप्त करे छे, आ विज्ञानमय आत्माने प्राप्त करे छे, आ आनंदमय आत्माने प्राप्त करे छे.

तेनो आ श्लोक छे. ज्यांथी मन साथे, प्राप्त नहि करीने, वाणी पाछी फरे छे; ब्रह्मनो आनंद जाणनार क्यांहि पण भय पामतो नथी. आने एम पण विचार आवतो नथी के में कांई साधु-सारु-न कर्युं, के में कांई पाप कर्युं.

जे आ आम बंन्नेने (अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्म—आनंदमयने) जाणे छे ते पोताना आत्माने प्रेमयुक्त करे छे, (शुद्ध प्रेमनुं फल आनंदमय तेनो अनुभव करावे छे). जे आम बन्नेने जाणे छे ते निज आत्माने संतोषे छे. आवी उपनिषद्—रहस्यविद्या—छे.

आनन्दमय वा रसात्मक पुरुषोत्तम.

प्राचीन उपनिषदोमां तैत्तिरीय उपनिषद् सुन्दर छे, अने तेमां पण आनन्दवल्ली वा ब्रह्मवल्ली, वा ब्रह्मानन्दवल्ली परम रमणीय छे. उपनिषदो अनेक प्रकारना छे. यद्यपि सर्व उपनिषदो रहस्यविद्यानुं ज प्रतिपादन करवावाला छे, उपनिषद्मात्र भगवान्नुं ज प्रतिपादन करे छे, छतां पण केटलाक उपनिषद् भगवाननी विभूति वगेरेनुं प्रतिपादन करे छे, केटलांक अक्षरब्रह्मनुं निरूपण करे छे, ज्यारे आ आनन्दवल्ली तो उत्तमोत्तम फलनुं प्रतिपादन करे छे, तेथी महान् आचार्यो आने फलप्रकरण कहे छे. प्रभुना उत्तमोत्तम प्रेमैकसाध्य, प्रेमैकस्वरूप, अनुभवैकगम्य, निगूढ भावात्मक आनन्दमय रसप्रचुर साकार स्वरूपनुं, तत्प्राप्ति, तदनुभवप्रकार वगेरेनुं निरूपण आ आनन्दवल्ली करे छे. पारलौकिक आवा उत्तमोत्तम फलनुं दर्शन जेवुं आ श्रुतिमा थाय छे तेवुं दर्शन अन्यत्र क्याहि पण थतुं नथी.

तैत्तिरीय उपनिषद् 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्' ए सूक्ष्म सूत्रवाक्यमां निजोपदेश गूढताथी संग्रही, 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहित गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' ए ऋचाद्वारा तदर्थनुं विवरण करी, तदवशिष्ट ग्रन्थथी परनुं-पुरुषोत्तमनुं-परत्व-इत्यादि उपपादन करे छे. विपश्चित् ब्रह्म साथे ब्रह्मज्ञानयुक्तनो सर्वकामोपभोग ए ज परप्राप्ति छे. आ ज विपश्चित् ब्रह्मने श्रुति अहीं आनन्दमय तथा 'रसो वै सः' तरीके वर्णवे छे, गणितानन्द अक्षर-धाम-ब्रह्म-थी पण अधिक अगणितानन्द रसात्मक-आनन्दस्वरूप-साकार-तरीके पुरुषोत्तमने-परने वर्णवे छे. आनुं प्रतिपादन श्रुति अग्रिम ग्रन्थथी योजे छे.

'तस्मात् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ए वाक्यमा ते आ आत्माथी सृष्टि कही छे. अर्थात्-परब्रह्म कर्तृ छे, अकर्तृ नथी. उपादान निमित्त उभय ब्रह्म ज छे. आत्माथी, आकाश, आकाशथी वायु, वायुथी अग्नि, अग्निथी जल, जलथी पृथ्वी, पृथ्वीथी औषधि, औषधिथी अन्न, अन्नथी पुरुष, आम क्रमसृष्टि दर्शावी मार्यादिक सृष्टिना कारण पण प्रभु छे एम श्रुति दर्शावे छे. अहिं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, औषधि, अन्न वगेरे तत्तद्रूप ब्रह्म-कारणावस्थ छे. प्राकृत आकाशादिथी भिन्न छे. आम ब्रह्मसृष्टि क्रमसृष्टि निरूपण करी श्रुति अन्नमय पुरुषनुं निरूपण करे छे.

---

१ अत्र बन्नेनो अर्थ रंगरामानुज, मध्व अने शंकर पूर्ववाक्यगत पापपुण्य करे छे. जयगोपालभट्ट बन्नेनो अर्थ प्रकरणानुसार अक्षर ब्रह्म अने परब्रह्म एम करे छे. आम करवामा उपक्रम-अने उपसंहारनी एकवाक्यतारूप उपपत्तिविशेष प्राप्त थाय छे. आरंभमां श्रुति केहे छे 'ब्रह्मने जाणनार परब्रह्मने प्राप्त करे छे', तेम अंतमा पण कहे छे के ब्रह्म अने परब्रह्म-अर्थात् अक्षर अने आनन्दमयने जाणनार परम फल प्राप्त करे छे. आ प्रकारे जे तत्व आरंभमा श्रुतिए निरूपण कर्युं, तेज अन्तमा पण निरूपण करी उपक्रम अने उपसंहारनी एकवाक्यता सिद्ध करी. मेक्षमूलरेन आ वाक्यनी रचनामा गम पडती नथी.

ते आ पुरुष अन्नरसमय छे, आ ज तेनुं शिर छे, आ तेनो दक्षिण पक्ष छे, आ उत्तर पक्ष छे, आ आत्मा छे, आ पुच्छ प्रतिष्ठा छे. अन्न ए प्रजामात्रनुं उत्पत्ति स्थिति अने लयनुं कारण छे. अन्न-अन्नमय-भूतोमां ज्येष्ठ छे, माटे सर्वौषध छे. आ अन्न अन्नमय-ब्रह्मने जे उपासे छे ते सर्वे अन्न प्राप्त करे छे. आ अन्नमय पुरुषने श्रुति पक्षी तरीके वर्णवे छे; अन्नमयने पुरुष पण कहे छे, अने प्रजामात्रनी उत्पत्ति स्थिति लयनुं कारण कहे छे. तेथी आ अन्नमय पुरुष विकारशील पांचभौतिक अनित्य देह नथी, परन्तु भगवाननो विराट् देह छे. आ विराट् पुरुष छे, कोश नथी, जे 'अन्न ब्रह्म ने उपासे छे ' एम कहीने श्रुति आ अन्नमय पुरुषनी ब्रह्मता स्पष्ट कहे छे. आ अन्नमय बाह्य व्यवहारनुं कारण छे.

आ अन्नमय पुरुषनी अन्तर्गत प्राणमय पुरुष छे. आ प्राणमय पण लौकिक कोश नथी, जीवदेहान्तर्गत प्राणमय कोश नथी, परन्तु मुख्यप्राण आसन्य छे; भगवद्रूप छे. आ अन्तर व्यवहारनुं कारण छे. आ प्राणमय पुरुषनो प्राण शिर छे, व्यान जमणो बाहु छे, अपान डाबो बाहु छे. आकाश आत्मा छे. पृथ्वी पुच्छ प्रतिष्ठा छे. आ प्राणमय पुरुष ब्रह्म छे, जीव वा प्राणमयकोश नथी. आ प्राणमयना त्रण कार्य छे, बल, भोजन, अने विसर्ग. आ प्राणमय-आसन्य कोशप्राणमयथी भिन्न छे. प्राणमय कोशनी पांच वा दश वृत्ति छे, ज्यारे आ भगवद्विभूतिरूप प्राणमय पुरुषनी त्रण वृत्ति छे. प्राणमयकोशनो संचार हृदयादि नियत देशमां छे; ज्यारे आ प्राणमय पुरुषनो संचार आकाशमां छे. ए आकाश स्वरूपलाभनो हेतु होवाथी श्रुति तेने आ प्राणमय पुरुषनो आत्मा कहे छे. प्राणमय कोश देहमां स्थिति करे छे, ज्यारे आ प्राणमय पुरुष सर्व पृथ्वीमां स्थिति करे छे. आ प्राणमय पुरुष अन्नमयनी भीतर विराजीने तेने आकार समर्पे छे.

आ प्राणमय पुरुषनी भीतर मनोमय पुरुष विराजे छे. प्राणमय पुरुषने आकारसमर्पक आ मनोमय पुरुष छे. आ मनोमय पुरुष तेज वेद-पुरुष छे; ए आ वैदिक व्यापारनुं कारण छे. वेद ए भगवाननुं मनोमय स्वरूप छे एम श्रीमद्भागवतना एकादश स्कन्धमां ' स एष जीवो विवरप्रसूतिः ' ए श्लोकमां स्पष्ट कह्युं छे. आ मनोमय वेदात्मक पुरुषनु यजुर्वेद शिर छे. ऋग्वेद दक्षिण बाहु छे, सामवेद वाम बाहु छे. कर्मचोदना-आदेश-आत्मा छे. कर्मनो स्थैर्यसंपादक अथर्ववेद प्रतिष्ठा छे. शान्ति वगेरे कर्मनो बोध एमां होवाथी एने मनोमय हंसनुं पुच्छ कह्युं छे. वेदात्मक पुरुष मनोमय ए पण भगवाननुं स्वरूप छे, कोश नथी; नाना वृत्तिवाला मनोमय कोशथी आ प्रकारे आ वेदात्मक मनोमय पुरुष भिन्न छे.

आ वेदात्मक मनोमय पुरुषना भीतर विज्ञानमय पुरुष विराजे छे. मनोमय पुरुषने आकारसमर्पक आ विज्ञानमय पुरुष छे. आ विज्ञानमय पुरुषनुं शिर श्रद्धा जल-छे, ऋत-प्रमीयमाण धर्म-दक्षिण बाहु छे, सत्य-अनुष्ठीयमान धर्म-वाम बाहु छे. योग मुख्य होवाथी आ विज्ञानमय पुरुषनो आत्मा छे. विज्ञानमय पुरुष-ए अक्षरब्रह्म छे, कोश नथी. संशय, विपर्यासादि नानावृत्तिवाला विज्ञानमय कोशथी आ विज्ञानमय-अक्षर-पुरुष-भिन्न छे. आ विज्ञानमय पुरुषने प्राप्त थयलानी महर्लोकथी नीचे गति थती नथी तेथी ए महर्लोक विज्ञानमय पुरुषनी प्रतिष्ठा छे.

आ विज्ञानमय-अक्षर-पुरुषनी भीतर आनन्दमय विराजे छे. विज्ञानमय अक्षर पुरुषने आकारसमर्पक पण आ आनन्दमय पुरुषोत्तम छे. आनन्दमय पुरुषथी कोइ पर पुरुष नथी तेथी एज पुरुषोत्तम छे एम निश्चय थाय छे. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय सर्वने आकारसमर्पक आनन्दमय होवाथी एनुं स्वतःसिद्ध साकारत्व निश्चित थाय छे. सर्वमां आन्तर पण आनन्दमय ज छे. एनीज प्राप्तिने आ श्रुति परप्राप्ति कहे छे. आ आनन्दमय पुरुषोत्तम-ने ज श्रुति पर विपश्चिद् ब्रह्म कहे छे. धर्मभेदथी एना स्वरूपनुं श्रुति वर्णन करे छे. प्रिय एनुं शिर छे, आनन्दमय पुरुषोत्तम मुख्यताथी प्रेमनो ज विषय होवाथी प्रीतिने एनुं शिर कह्युं छे. मोद ए एनो दक्षिण बाहु छे, प्रमोद एनो वाम बाहु छे. आनन्द एनुं स्वरूप छे, माटे ए एनो आत्मा छे. ब्रह्म-अक्षर ब्रह्म-ए एनुं धाम छे. अक्षर-ब्रह्म-साधनरूप होवाथी ए एनुं पुच्छ छे.

अन्नमयादि पंच पुरुषोना निरूपणथी आ फलित थाय छे. अन्न ब्रह्मनी उपासना करवाथी सर्व अन्न प्राप्त थाय छे, अने तेनाथी बाह्य लौकिक भोग सिद्ध थाय छे. त्यार पछी प्राण-ब्रह्मनी उपासनाथी सर्व आयुष्य प्राप्त थवाथी लौकिक आन्तर भोग सिद्ध थाय छे. त्यार पछी ब्रह्मानन्दना ज्ञानथी भय दूर थवाथी वैदिक भोग सिद्ध थाय छे. लौकिक व्यवहारमां मनुष्य उमर वगेरे प्राप्त कर्याथी स्वतंत्र थाय छे, अने त्यार पछी वैदिक व्यवहार करे छे. आ व्यवहार लौकिक व्यवहारथी भिन्न छे. वैदिक भोग सिद्ध थया पछी पारलौकिक भोगनी सिद्धि विज्ञानमयनी उपासनाथी थाय छे. नानाविध निष्काम यज्ञ करवाथी ब्रह्मज्ञानने माटे योग्य देहनी प्राप्ति थाय छे. व्यास आ ज उपदेश तृतीय अध्यायना प्रथम पादमा करे छे. अन्ते प्रमादना अभावमां सर्व पापना नाश थया पछी सर्वकामनी प्राप्ति थाय छे. आ प्रकारे उपासनाना कथननुं प्रयोजन पण स्पष्ट थाय छे.

अन्नमयादि पुरुषना स्वरूपनो विचार श्रीमद्भागवतमां वेदस्तुतिमां पण कर्यो छे. अन्न-मयादि पुरुषोमां अन्तिम पुरुष आनन्दमय भगवान् छे. अन्नमयादिने सर्व पुरुषोने आकार-समर्पक आ आनन्दमय ज छे. आ पांच पुरुषोनी प्राप्ति आ लोकना त्याग पछी थाय छे एम श्रुति कहे छे तेथी एम निश्चय थाय छे के आ पाच कोश नथी, परन्तु आ पाचे पुरुष फलरूप व्यापक अने भिन्न छे. मध्व निम्बार्कादि कोइ आ पांचनुं कोशत्व स्वीकारतुं नथी. मध्वाचार्य तो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, अने आनन्दमयने अनुक्रमे अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, वासुदेव अने नारायण कहीने सर्वनी भगवद्रूपता स्वीकारे छे.

उपर अन्नमय प्राणमय मनोमय अने विज्ञानमय ए सर्वने आकारसमर्पक आनंदमय छे एम कहीने तेनुं स्वतःसिद्ध साकारत्व प्रतिपादन कर्युं छे. आ प्रकारे विचार करतां अन्नमय, प्राणमय, मनोमय अने विज्ञानमय ए चार विभूति ठरे छे अने आनंदमय ए पुरुषोत्तम परब्रह्म ठरे छे. भग-वान् बादरायण व्यास पण आनंदमयने ए चार विभूतिथी भिन्न गणीने तेनुं परब्रह्मत्व प्रकट करे छे. प्रकृत निखिल प्रपाठकमां आनंदमयनुं वारंवार कीर्तन अने स्तुति स्पष्ट शब्दोथी, अने अर्थथी करी छे. तेथी आनंदमय ए परब्रह्म छे, ज्यारे अन्य चार पुरुषो भगवान्नी विभूतिओ छे. आनं-दमय स्वतःसिद्ध साकार होवाथी अन्य चारने पुरुषविधता–साकारत्व–प्राप्त थाय छे. लोकमा

जे अंदर भरवामां आवे छे, तेनो तदाकार धातुनी मूर्ति बनावती वखते जोवामां आवे छे. बहार वेष्टित जे होय तेनी तदाकारता तो उपदेहमां अने सीवेलां वस्त्रमां जोवामां आवे छे. जेम भांडना कर्ताओ प्रथम मीणनी आकृति बनावीने ते ऊपर माटी लगाडीने तेना बाकोरामां धातु रेडे छे, नहि तो पूरित भांडनुं निर्माण न थाय. आ देह तेवो छे. माटे अहि देहमां कोई आन्तर एवो होय छे के जेना ऊपर आवेला अन्नमयादि सर्व पुरुषाकार थाय. जो तेम न मानो तो घटादिनी माफक आ पांच पुरुषो जीवकृतिथी साध्य नहि होवाथी राखोडीना जथानी माफक ढगला थइ जाय. अहि तो श्रुतिमां 'तस्मात् वा एतस्मात् अन्नरसमयाद्न्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेन एष पूर्णः। स वा एष पुरुषविधः। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः' एम कह्युं छे. अर्थात् ते आ अन्नरसमयथी अन्य आंतर आत्मा प्राणमय छे. ते प्राणमयथी आ अन्नमय आत्मा पूर्ण छे, व्याप्त छे, ते आ प्राणमय पुरुषविध छे, तेनी पुरुषविधताथी आ अन्नमय आत्मा पुरुषविध छे, एम कह्युं छे. तेथी प्राणमय आंतर आत्माथी उपरितन अन्नमय पूर्ण छे एम कहीने आ प्राणमय पुरुषविध होवाथी अन्नमय तदाकार पुरुषविध छे एम श्रुति कहे छे. आथी पांचे पुरुषोमां सर्वथी आन्तर आत्मा आनंदमय ज सर्वने आकारसमर्पक ठरे छे, एने तेथी तेनुं स्वतःसिद्ध साकारत्व पण स्पष्ट प्रतीत थाय छे. वेदस्तुतिमां पण भगवदन्वयथी ज अन्नमयादिनी साकारता निरूपण करी छे. अन्नमयादिने साकारत्वने माटे अन्यनी अपेक्षा पडे छे, आनन्दमयने नहि. कोई अन्नमयने सर्वना आकारसमर्पक कहे तो तेनो निषेध श्रुतिओ स्वयं करती कहे छे के अन्नमयादिमां जे चरम–अन्तिम–सर्वान्तर आनन्दमय छे तेना अन्वयथी ज अन्नमयादि अन्य पुरुषविध थाय छे. माटे अन्तःस्थित आनन्दमय जे अन्नमयादि चार पुरुषोनी पुरुषविधता निरन्तर संपादन करे छे ते ज प्रभु अत्यन्त मान्य छे. भगवान् ज आनन्दमय छे.

अत्र केटलाक शाकर विचारको अन्नमयादिनुं स्पष्ट आत्मत्व–पुरुषत्व लौकिक देहथी भिन्नत्व श्रुतिमां स्पष्ट कहेलुं छे ते अनादर करी आ अन्नमयादि पांचेने कोश माने छे. आ प्रकारे परम प्रेष्ठ आनन्दमय प्रभुनो त्याग करवाथी अवशिष्ट रहेता शोकने ते लोको प्राप्त करे छे. बादरायण व्यास स्पष्टतम शब्दोमां आनन्दमयनुं परब्रह्मत्व कथे छे, तेने पण ते लोको तिलांजलि अर्पे छे. आनन्दमयमां मयट्प्रत्यय विकारवाची नथी, परन्तु प्राचुर्यवाची छे, एम व्यास स्पष्ट कहे छे, ते पण अवगणवाने धाष्टर्य करे छे, 'द्व्यचः छन्दसि' ए सूत्रथी महर्षि पाणिनि बे स्वरवाला शब्दमां विकारवाची मयट्प्रत्यय होय एम कहे छे, परन्तु त्रण स्वरवाला शब्दमां मयट् विकारवाची होइ शके एम कहेता नथी, ते पण लक्ष्यमां राख्या विना त्रण स्वरवाला आनन्दमयमां मयट् प्रत्यय विकारवाची छे अने तेथी ते ब्रह्म नथी एम कल्पे छे.

परन्तु आ सर्व कल्पनानो उद्भव साकार ब्रह्मना द्वेषमांथी ज अथवा ब्रह्मपदमां रहेली अढ श्रद्धामांथी थयलो छे एम लागे छे. ब्रह्मने आनन्दमयनुं पुच्छ–प्रतिष्ठा श्रुतिए स्पष्ट शब्दथी कह्युं ते गळे उतरतुं नथी, तेनुं कारण पण आनन्दमयने श्रुति हंसरूप वर्णवे छे, तेना उपर लक्ष्य नहि रहेवाथी ज. ज्यारे परमात्मा आनन्दमय हंसाकार होय त्यारे तदाधार अक्षर ब्रह्म तेनुं पुच्छ

थाय छे. ज्ञानमार्गनुं फल अक्षर–ब्रह्म छे, ज्यारे भक्तिमार्गनुं फल आनन्दमय छे ते, अने भक्तिमार्गनुं फल ज्ञानमार्गना फल करतां उत्तम छे ते, बतावनाने श्रुति ब्रह्मने–अक्षरने–आनन्दमयनुं पुच्छ कहे छे. आनन्दमयने पुरुष तरीके वर्णवे त्यारे ब्रह्म–अक्षर आनन्दमयनी प्रतिष्ठा–आधार–गृह–धाम–चरण–इत्यादि कहेवाय छे. परन्तु तेथी अक्षर–भगवच्चरण अब्रह्म थतुं नथी. माटे अन्तःस्थित आनन्दमय ज आनन्द आकार संपादन करे छे. आ प्रकारनुं आनन्दमय प्रभुनुं पुरुषोत्तमत्व जे स्वीकारता नथी तेने आधिदैविक श्रुतिदेवीओ कृतघ्न कहे तेमां शुं कहेवुं, अने जे आवा अन्तःस्थित आनन्दमय प्रभुने पुरुषोत्तम जाणीने भजे ते युक्त छे एम कहे तेमां पण शुं कहेवुं ?

आनन्दमयमां मयट्प्रत्यय विकारवाची ज छे एम कहीने तेनुं अब्रह्मत्व शंकराचार्ये कह्युं तेने स्थिर करवाने भामतीकार त्रण चार कारणो आपे छे ते तपासीए. 'प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलंघनम्। पूर्वस्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम् ॥' अर्थात् आनन्दमयनुं ब्रह्मत्व स्वीकारवामां आवे तो ए पक्षमां अन्नमयादिमां स्वीकृत मयट्प्रत्ययना विकारार्थना त्यागथी प्रायपाठनो परित्याग थायछे ए एक दोष. ब्रह्मना अर्थमां अप्रसिद्ध एवा आनन्दमयपदनो अर्थ ब्रह्म लक्षणाथी वा योगथी मानवामां आवे तो आनन्दमयपदना मुख्य अर्थनुं उल्लंघन थाय ए बीजो दोष. तेम ज ब्रह्मने आनन्दमयनुं पुच्छ कह्युं ते पण आनन्दमयना अवयव तरीके गौण अर्थमां थाय छे ए त्रीजो दोष. अने ब्रह्मपद पण ब्रह्म नहि पण पुच्छ थतां अब्रह्म थाय, तेमां स्वार्थनो त्याग थतां चोथो दोष. आ प्रकारे आनन्दमयनुं जो ब्रह्मत्व स्वीकारवामां आवे तो तेमां चार दोष प्राप्त थाय छे. ज्यारे आनन्दमयनुं विकारार्थकत्व मानीए तेमां ब्रह्मपदना मुख्य अर्थनो त्याग थतो नथी, तेम आनन्दमयना मुख्यार्थनो पण नहि, तेम आनन्दपदना मुख्यार्थनो पण नहि. पुच्छपदनो मुख्यार्थबाध थाय छे ते तो पुच्छने अवयव वा अधिकरण जे लोको माने छे तेमने पण तुल्य छे. तेम मानवामां पण मुख्यार्थनो बाध थाय छे. आनन्दमयने विकारयुक्त मानीए तेमां अवयवना प्रायपाठनो बाध थाय छे ए दोष छे, तेम आनन्दमयने ब्रह्म मानीए तो त्यां विकारना प्रायपाठनो बाध आववाथी उभयत्र दोष तुल्य छे. आथी विकारार्थ मयट्प्रत्यय आनन्दमयमां होवाथी ते अब्रह्म छे एम मानवुं एज युक्त छे एम भामतीकार कहे छे.

परन्तु आ सर्व भामतीकारनुं कथन व्याख्येय ग्रन्थ शांकरभाष्यनुं पूजनमात्र छे. एमां तात्त्विक कांइ नथी. विकारार्थनो प्राणमयमां कोइ आदर करतुं नथी. घटाकाशने घटनो विकार कहीने प्राणमयमां मयट्प्रत्ययनुं विकारवाचित्व घटावी शकाय एम नथी. छेक प्राकृतथी आरंभी महापंडितपर्यन्त कोई घटाकाशने घटनो विकार समजतुं नथी. घटमां भरेला दुधने कोई घटनो विकार मानतुं होत तो तेवुं अनुमान करी शकात, पण तेम पण कोई करतुं नथी. लोकमां के शास्त्रमां तेवो प्रयोग कोई करतुं नथी. भास्कराचार्यादि पण प्राणमयमां विकारार्थता स्वीकारता नथी. आ प्रकारे प्राणमयमां ज जो विकारार्थता न मनाय, तो पछी तेनी प्रायता पण वन्ध्यापुत्रना सौन्दर्य जेवी थई जाय छे. वस्तुतः अन्नमयादि पांचे पुरुषोमां मयट् प्राचुर्यवाची छे एम व्याससूत्र तो सूचवे छे.

वली, शब्दमात्र ॐकारनी विकृति छे. ॐकार ब्रह्मवाचक छे एम गीता पण कहे छे. तेथी ॐकारना विकृतिरूप शब्दमात्र उत्सर्गथी ब्रह्मवाचक सिद्ध ज छे. अर्थात् शब्दमात्रनो

मुख्य अर्थ भगवान् छे; परन्तु ते ते शब्दनो शक्तिसंकोच करीने व्यवहारार्थ लोको ते ते कहे छे, ते गौण अर्थत्व दूर करीने शब्दमात्रनुं भगवदर्थकत्व सिद्ध करवाने व्यासाचार्यनी प्रवृत्ति छे. तेथी आनन्दमय, ब्रह्म, के पुच्छ कोई शब्दना मुख्यार्थनुं उल्लंघन थतुं नथी, सर्व भगवान् छे तेथी.

आ प्रकारे आनन्दमयने ब्रह्म मानवामां कोई पण दोष नहि होवाथी अने तेने अब्रह्म मानवामां बहु दोष उपरांत व्यासविरोध मुख्य होवाथी आनन्दमयनुं ज ब्रह्मत्व स्वीकारवुं एज युक्त छे. भामतीकारनी शिक्षा के वेद अने सूत्रमां परस्पर विरोध होय तो सूत्रोने मचडवा ए तो केवल शांकरभाष्यनो उपहास लागे छे. व्यासना सूत्रो स्पष्ट रीते वेदार्थनो ज निश्चय करवाने योजायला छे, तेमने जो मचडवामां आवे तो तेमां फक्त वेदार्थना विप्लव सिवाय अन्य तो शिशुं नथी.

दुःखना अस्तित्वनी संभावना थाय छे तेथी आनन्दमय ब्रह्म नथी एम मानवुं पण युक्त नथी. लोकमां पण प्रचुरप्रकाशयुक्त सूर्य छे, बहुतापवालो उष्णकालनो दिवस छे, अन्धकारमयी वर्षारात्रि छे, श्रवण बहु धनवान् छे, आ वाक्योमां पण तद्विरुद्ध अंधकार, शीतलता, प्रकाश अने दरिद्रतानो प्रत्यक्ष ज बाध थाय छे, त्यां पछी तेना अल्पत्वनी शंका ज रहेती नथी. वेदमां तो सर्वभूतो जेनाथी जीवे छे तेवा आनन्दमयमां, आनन्दप्राचुर्यमां, दुःखनी शंका तो सुदूर थाय छे. वेदने जो दुःखनुं सूचन आनन्दमयमां जो क्यांहि पण करवुं होत तो आनन्दमयना स्वरूपवर्णनमां कोई अवयवद्वारा तेम करत ज; पण त्यां तो प्रेमने शिर कहे छे, मोदने दक्षिण पक्ष, प्रमोदने उत्तर पक्ष, आनन्दने आत्मा कहे छे. कांई सजातीय ज पदार्थथी अवयवकल्पना श्रुति सर्वत्र करती नथी. आकाश आत्मा छे, पृथिवी पुच्छ छे, महर्लोक पुच्छ छे एम पण श्रुति कहे छे. तेथी श्रुतिए दुःख केम आनन्दमयना अवयववर्णनमां न कर्युं ए पण विचारणीय छे. आनन्दमयना निरूपणमां 'शारीर आत्मा' ए प्रयोगमां शरीरशब्दथी पण दुःखनुं सूचन थतुं नथी. शारीर ब्राह्मणमां सर्वने भगवानना शरीर कह्यां छे. आनन्दमय प्रभुमां-निरवधि-आनन्दमां-जेने दुःखनी स्फूर्ति थाय छे तेना उपर महादुःखना संस्कारनुं प्राबल्य केटलुं हशे ते कल्पी शकातुं नथी.

वली जो आनन्दमयने ब्रह्म न मानीए तो ए कयो पदार्थ थाय तेनो विचार पण शांकरो करता नथी. आनन्दमय जीव तथा जड नथी एम तो व्यासाचार्य स्वतः कहे छे. अर्थात् ब्रह्म विना इतर वस्तु आनन्दमयने मानवा अवामां आचार्य श्रीवल्लभाधीश्वर आज्ञा करे छे तेम—महासाहसिकता-या महामूढता-ज प्रकट थाय छे. आनन्दमय ज परब्रह्म ज छे ए प्रत्यक्ष श्रुत्यर्थनो बाध तो स्वास ब्रह्माजी करवा मागे तो तेनाथी पण थवो अशक्य छे.

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय अने आनन्दमयनी प्राप्ति श्रुति आ लोकना त्याग पछी थाय छे एम कहे छे, एटले आ अन्नमयादि जीवकोश तो नथी ज. आ पांचे फलरूप, व्यापक अने भिन्न छे. 'अन्नात् प्राणा भवन्ति, भूतानां प्राणैर्मनः। मनसश्च विज्ञानं, विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः ॥ स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं । प्रति पृथिवी चान्तरिक्षं च, द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च ॥ स वै सर्वमिदं जगत् स भूतं स भव्यं'। वगेरेथी अन्य श्रुति अन्नादि पंचविध, उक्तरीतिथी पंचात्मक, पुरुषनी सर्वव्याप्ति अने सर्वात्मकता बोधीने अन्ते 'ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाहि विद्वान्'

ए वाक्यथी ते जाणनार मुक्ति प्राप्त करे छे एम कहे छे. आ प्रकारे अन्नमयादि कोश तो नथी ज. त्यारे आ कोशनी कल्पना क्यांथी आवी ? 'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम्' ए श्रुतिना आधारे अन्नमयादिने कोश कही शकाय परन्तु 'मारा' अन्नमयादि (कोशो) शुद्ध थाओ एम कहेलुं होवाथी ए कोशो स्व स्व जीवना भेदना छे. ते कोशो प्रतिशरीर भिन्न छे. परन्तु एमां 'मारा अन्नमयादि कोशो' शुद्ध थाओ एम कहेलुं होवाथी, तेना आधारे तैत्तिरीय श्रुतिना अन्नमयादि पुरुषोने कोश कल्पवा जवुं ए अयुक्त छे.

आ प्रकारे शांकरमतमां अन्नमयादि पांचे प्रतिशरीर भिन्न जीव कोश छे, व्यासाचार्यना पूर्वपक्षीना मते पांचे विभूतिरूप छे, ज्यारे व्यासाचार्य तथा श्रीमदाचार्यजीना सिद्धान्त प्रमाणे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय अने विज्ञानमय ए चार विभूतिरूप छे, अने आनन्दमय परम पुरुष होवाथी फलरूप छे.

अत्र आम दिशे छे. 'ब्रह्मविद् परने प्राप्त करे छे' एम प्रतिज्ञा करीने श्रुति सर्वत्र प्रपाठकमां तदर्थनुं ज, फलनुं ज, प्रतिपादन करे छे तेथी आ फलप्रकरण छे एम निश्चय थाय छे. प्रपाठकमां जे अनुप्रवेश कहेलो छे ते पण प्रकरणना अनुसार फलरूपनो ज छे एम स्पष्ट छे; जीवनो नहिं. अहि अनुप्रविष्ट फलरूप पुरुषनी सर्वात्मकता अने सर्वनी सत्यता कहेली होवाथी, छांदोग्य श्रुतिमां कहेला नामरूपना कारणरूप अनुप्रवेशथी आ अनुप्रवेश भिन्न छे. फलरूप आनन्दनो अनुप्रवेश सर्वत्र आ श्रुतिमां कह्यो छे ए वात स्पष्ट छे. 'जो आकाश आनन्द न होत तो' ए वाक्यथी आनन्दमयनी अन्तःस्थिति वर्णवी छे. अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयने जो कोश ज मानवा होय तो ब्रह्मकोश मानो, जीवकोश नहिं. सर्वान्तःस्थित आनन्दमय होवाथी साकारसमर्पक तो ते ज छे; अने ते ज प्रकारे अन्नमयादि चार पुरुषो तेना तनुरूप कोशरूप मानो तो पण युक्त ज छे. मैत्रायणीय श्रुतिमां अन्न, प्राण, मन, विज्ञान वगेरेने भगवानना तनु तरीके वर्णव्या छे. 'अन्नथी प्राण, प्राणोथी मन, मनथी विज्ञान, विज्ञानथी ब्रह्मयोनि आनन्द. तेज आ पुरुष पांच प्रकारे पंचात्मक छे, जेनाथी आ सर्व, पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक दिशा, अवान्तर दिशा व्याप्त छे. ते ज आ सर्व जगत् छे. भूत भव्य ते ज छे'. आ उपर कहेली तैत्तिरीय श्रुतिथी अत्र कहेला अन्नमयादि सर्वव्यापक अने सर्वात्मक ठरे छे. तेथी ए जीवकोश तरीके तो गणी शकाय एम नथी ज. तेथी आ भगवत्तनुरूप अन्नमयादि चार पुरुषो तो भगवद्विभूतिरूप, नित्य, व्यापक, भिन्न तथा प्राप्य छे. अन्नमयादि जीवकोशो जे अन्य श्रुतिमां कहेला छे ते तो आ भगवद्विभूतिरूप अन्नमयादि पुरुषोना व्यष्टिरूप छे. आ प्रकारे अहि निरूपण करेला अन्नमय–विराट् देह, प्राणमय–आसन्य, मनोमय–वेद, विज्ञानमय–अक्षर, ए चार पुरुषो भगवाननी विभूति होवाथी अने जीवकोशथी भिन्न होवाथी, परम पुरुष आनन्दमय जेने श्रुति सर्वान्तःस्थित सर्वाकारसमर्पक वर्णवे छे, अने जेनुं वारंवार प्रपाठकमां कीर्तन करे छे ते आ भगवद्विभूतिरूप अन्नमयादि चार पुरुषोथी पण भिन्न छे. आज आनन्दमयने श्रुति पर पुरुषोत्तम कहे छे, परम फलरूप पण आ ज छे, अने आनुं ज निरूपण सर्वत्र प्रपाठकमां छे. ब्रह्मवित् जीव पूर्वोक्त विभूतिव्यष्टिरूप स्वकोशोमांथी उत्क्रमण करीने, त्यजीने, समष्टिभूत अन्नमय, प्राणमय, मनोमय,

विज्ञानमय, अने आनन्दमय विभूतिओने प्राप्त करी, आनन्दमयरूप थईने आ परम पुरुष आनन्दमय ब्रह्मने प्राप्त करे छे. 'आनन्दमानन्दमयोऽवसान' एम श्रीमद्भागवतना द्वितीय स्कंधमां पण कह्युं छे. अत्र यद्यपि आनन्दमयनुं मध्यमां निरूपण नथी तो पण 'तदितोधि वरुणः सम्बन्धात्' ए व्याससूत्रथी तेम मानवामां विवादलेश नथी. आम अहि त्याज्य एवा अन्नमयादि कोशोमांथी नीकळी, त्यार पछी भगवानना विभूतिरूप समष्टिरूप भगवत्तनुरूप अन्नमयादि पांचने प्राप्त करी, अन्ते परम पुरुष फलरूप आनन्दमयने क्रमेथी प्राप्त करे छे. ज्ञानमार्गनी रीतिथी प्राप्तिप्रकार आवो छे. आचार्यश्रीए आज प्रकारनुं निरूपण मान्त्रवर्णिकसूत्रना भाष्यमां कर्युं छे.

भक्तिमार्गीय प्राप्तिप्रकार आ छे. आ श्रुति अनुप्रवेश कहे छे, पुरमां प्रभु आवेश करे छे, एम बीजी श्रुति पण कहे छे. तेथी पुरोमां-भक्तशरीरोमां प्रभुनो प्रवेश ए श्रुतिसिद्ध छे. यद्यपि सर्वाकारसमर्थक आनन्दमयनी लौकिक शरीरमां स्थिति तेवी प्राप्ति थतां पहेला पण सिद्ध छे, अने अन्य चार पुरुषो पण आकाशवद् व्यापक होवाथी तेमनी स्थिति पण भक्तशरीरमां सिद्ध छे छतां पण आ सार्वदिक स्थिति तेटला ज कार्य पुरती छे, आनन्दमयना फलानुभवमां आवी स्थिति प्रयोजक नथी. जेवी रीते अग्नि काष्ठमां नित्यसिद्ध छे, छतां ए अग्निनी काष्ठमां स्थिति काष्ठना दहन करवामां प्रयोजक नथी, तेम भक्तशरीरोमां आनन्दमय तथा अन्नमयादिनी पूर्व स्थिति छे छतां फलानुभवमां ते स्थिति प्रयोजक नथी. आम होवाथी बहार बिराजता प्रभु भक्तिथी भीतर पधारे, अथवा हृदयमां ज मायाना टेराने सरकावीने प्रकट थाय त्यारे अक्षरात्मक विभूतिरूप अन्नमयादि भगवाननी साथे भीतर पधारे छे, अथवा तो प्रकट थाय छे. आ तो भक्तना लौकिक शरीरनी व्यवस्था थई. परन्तु ज्यारे आ लोक छोडीने भक्त अलौकिक शरीर प्राप्त करे छे त्यारे तो त्यां आ अन्नमयादि विभूतिरूप सर्व विद्यमान होवाथी, कार्यकारित्व तेमनुं त्यां विशेष छे. आम अन्नमयादि आधिभौतिक रूपे भक्त शरीरमां व्याप्त रहे छे, आध्यात्मिकरूपे-पक्षिरूपे-प्रवेश करे छे, अने आधिदैविकरूपे कार्य करे छे. आधिभौतिक लोकमां नियत छे, आधिदैविक भगवान्मां नियत छे एम फलित थाय छे. अवान्तर सर्वमां आधिदैविकादि त्रणे यथासंभव सव्यपेक्ष छे. आम भक्तिमार्गीय प्राप्तिप्रकार पण स्पष्ट श्रुतिए कह्यो छे. आनन्दमयसूत्रभाष्यना द्वितीय वर्णकमा आ प्रकार प्रभुचरणे स्पष्ट कर्यो छे.

आ प्रकारे मार्यादिक सृष्टिनुं पण श्रुतिए श्लेषथी निरूपण कर्युं. 'सोऽकामयत, बहु स्याम्, प्रजायेय,' प्रभुए कामना करी, बहु थाउं, उत्पत्तीव भाव प्रकट करूं. आ वाक्यथी प्रभु कामनार्थी अने कामना ए मानसधर्म होवाथी मनथी पण सृष्टि प्रकट करे छे. आ प्रवाह सृष्टि छे. प्रवाहसृष्टिना पण कारण कर्ता मनथी प्रभु स्वयं थाय छे.

मार्यादिक प्रावाहिक सृष्टिद्वयनुं निरूपण करीने पछी श्रुति पुष्टिसृष्टिनुं निरूपण करे छे. 'तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते ।' आ सृष्टि प्रभुनी निजरूप छे, श्रीअंगमांथी प्रभु प्रकट करे छे. आ सृष्टि सुकृत छे. आ सृष्टिमां रसात्मक आनन्दमय प्रभु ज सर्व छे, ए दर्शाववाने श्रुति कहे छे के भक्त एम रसने प्राप्त करीने आनन्दी थाय छे. कोण जीवी शकत, कोण प्राण धारण करी शकत जो आकाशरूप आनन्द न होत तो-अहि श्रुति प्रेममार्ग

प्रकट उपदेशे छे. अहि रसात्मक भगवत्स्वरूपना लाभथी आनन्दी थवाय छे एम कहीने ते ज रसात्मक प्रभुने जीवनना हेतु अने परमानन्दना हेतु कह्या छे. रसस्वरूपनुं मरणनी उपस्थितिना अभावमां जीवनहेतुत्व कहेवुं घटी शके ज नहि. आ रस-तो संयोग अने विप्रयोगथी पूर्ण अनुभवमां आवे छे; केवल संयोग के केवल विप्रयोगथी नहि. त्यां विरहताप घणो ज तीव्र होवाथी भक्तनी प्राणस्थिति पण न टके, ते मा थाओ ए हेतुथी रसात्मक भगवान् तेना हृदयमां विराजे छे. श्रुति कहे छे के जो आ हृदयमां स्फुरद्रूप आकाश भगवान् न होत तो कोण प्राण धारण करवी शकत. आवा विरहतापयुक्त भगवदीयने तो जीवन टकावी राखनार भगवत्स्वरूप विना अन्य कोई नथी. ब्रह्मानन्दथी अधिक पूर्णानन्द-आनन्दमय-रसात्मक पुरुषोत्तम छे. तेना विरहतापथी जे प्रेममुग्ध भगवदीय प्रेमनी दृग्भंगादि नव अवस्था ओलंगीने प्रेमनी अन्तिम अवस्था-मरण-समीप-जे पहोंच्यो छे, तेनुं जीवन टकावी राखवानुं सामर्थ्य रसात्मक-प्रभु विना अन्य कोनुं होइ शके? परन्तु आवा भगवदीयनुं जीवन संपादन करवुं प्रभुने आवश्यक छे. आ विरहतापात्मक आकाश स्वरूप पण आनन्दात्मक छे ते जणाववाने तेने आनन्द कह्यो छे. आ विरह अवस्थामां प्रलाप गुणगानादि जे भगवदीयथी थई जाय छे ते पण विप्रयोग रसात्मक प्रभुना ज धर्मो छे. नीलांबुदश्याम-मेघश्याम-कृष्ण-आनन्दमय-जे हृदयमां विराजे ते अनिक्लेशथी हृदयथी बहार पधारे एम भाव थाय तो पण हृदयमांथी ते स्वरूपने खसेडी शकातुं नथी ते जणाववाने श्रुति आ विप्रयोगात्मक आनन्दावस्थाने आकाशरूप कहे छे. आ प्रकारे विरहतापथी भक्त आसन्नमरण थाय छे, त्यारे प्रकट थईने प्रभु विना अन्य एवो कोण होई शके के जे दर्शन, स्पर्श, आश्लेष, भाषणादिथी स्वरूपानन्दनुं दान करीने ते भगवदीयने जीवाडी शके, पूर्वे प्रकट थयला विरहतापनी निवृत्ति करी तेने आनन्दपूर्ण करी शके, आ जणाववाने श्रुति कहे छे के ए ज रसरूप प्रभुने प्राप्त करीने भगवदीय आनन्दपूर्ण थाय छे. आनन्दमय पुरुषोत्तम ज रसरूप छे ए दर्शावी, तदंगज विशेष कृपायुक्त तद्रूप सृष्टि आ रसात्मक आनन्दमयनी प्राप्तिने ज परप्राप्ति माने छे एम कहीने आवा रसात्मक प्रभुमां निष्ठायुक्त सृष्टिनी निर्भयता श्रुति जणावे छे. आ सृष्टिने लोकवेदनो भय नथी. आ सृष्टि प्रभुने ज आधीन रहे छे. वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, यम वगेरे देवताओ तेने अधीन थई स्वधर्म पाळे छे, तो पछी तदंश जीवो तेने अनुसरे तेमां शुं कहेवुं?

आ प्रकारे श्रुति त्रिविध सृष्टि कहीने प्रभुनी त्रिविध लीला पण प्रतिपादन करे छे. आसुर प्रावाहिक सर्गथी ए क्रीडा विप्रकृष्ट थाय छे, आसुर सृष्टिमां प्रभु दूरथी क्रीडा करे छे, माया वगेरेनो अन्तरपट राखीने खेले छे. मार्यादिक सर्गथी परम्परित, मार्यादिक सृष्टिमां प्रभु विभूति वगेरे परंपराथी खेले छे. अने पुष्टिसर्गमां साक्षात् क्रीडा करे छे. पुष्टिसृष्टि श्रीअंगसृष्टि होवाथी, प्रभु विशेष अनुग्रहथी साक्षात् स्वयं तेमां विशेष रमण करे छे.

आम आनन्दमय साकार रसात्मक पुरुषोत्तम, तत्प्राप्तिमां थता सर्व कामोपभोगनो प्रकार वगेरे सर्व निरूपण करीने 'ब्रह्मविद् परने प्राप्त करे छे' ए वाक्यमां कहेला अक्षर ब्रह्मना आनन्दनी गणना श्रुति करे छे. श्रोत्रिय, निष्काम निरोगी, यौवनयुक्त, विद्वान्, भोजनशक्तियुक्त, दृढ अंगयुक्त, बलवान् पुरुषने जे आनन्द थाय ते मनुष्यनो एक आनन्द गणाय. आवा शत आनन्द मळे त्यारे मनुष्यगन्धर्वनो एक आनन्द थाय. आम देवगन्धर्व, चिरलोक पितृ, आजानजदेव, कर्मदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति वगेरेनो एक आनन्द पूर्वना आनन्द करता उत्तरोत्तर शतगुण विशेष छे एम

जणावी ब्रह्मानन्दनी गणना करी ए ब्रह्म गणितानन्द अक्षरब्रह्मधाम छे एम श्रुतिए जणाव्युं छे. आ ब्रह्मने पुरुषमां वा आदित्यमां जाणे छे, ते एक छे एम जे जाणे छे, ते आ लोक त्यजीने आ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आनन्दमयने प्राप्त करे छे एम कहीने ब्रह्मविद् पर–पुरुषोत्तमनी प्राप्ति करे छे एम कहीने, आ पुरुषोत्तमनी प्राप्तिमां तेनी साथे सर्व कामोपभोग करनारने पाप पुण्यनो–लोक वेदनो भय रहेतो नथी एम कहीने, आरंभमां ब्रह्मविद्नो जे परप्राप्ति कहेली तेनुं पुनः अन्ते विवरण करी, उपक्रम अने उपसंहारनी एकवाक्यता श्रुतिए जणावी. आ ज आनन्दमय उपनिषद्नुं परम निगूढ परम तत्त्व छे. एवा रसात्मक पुरुषोत्तमनुं कचित् पण दर्शन श्रीमदाचार्यचरणनी कृपाथी थाओ एज अत्र प्रार्थ्य छे.

अखंड ब्रह्मवादनी रीतिथी आनन्दमयनुं परब्रह्मत्व सिद्ध थयुं. आ ज अर्थने फरीथी सुदृढ करवाने श्रीमत्प्रभुचरण श्रीमद्विठ्ठलेश्वर आधिदैविकवादनो आश्रय लईने आज प्रपाठकने नीचे दर्शावेला प्रकारे योजे छे. ब्रह्मवादभवननी रचना सुदृढ थया पछी तदन्तःस्थित आधिदैविकवादनी झांखी पण परम रमणीय लागशे. आनन्दमय प्रभुनुं देवत्व–क्रीडैकशालित्व पण आधिदैविक वादथी स्फुट थाय छे. परम विशुद्ध निर्गुण निरवधि निरुपधि निगूढ प्रेमनी पराकाष्ठा आ ज रसात्मक साकार आनन्दमय छे. तत्प्राप्तिथीज आत्यन्तिक शोकनी निवृत्ति अने परमानन्दनी प्राप्ति थाय छे. तल्लीलानुं अनुसंधान पण परम कैवल्य मोक्ष छे. तल्लीलानुं कीर्तन पण मोक्षदायक छे. रासलीलैकतात्पर्य श्रीव्रजराज ज आ परम प्रेमनो विषय छे, रसात्मक साकार पुरुषोत्तम आनन्दमय पण ते ज छे, गोपवधूओ पण तद्रूप छे, अने तेमनुं परस्पर रमण पण तदात्मक छे. आवी परम निर्दुष्ट भावनाओनो स्वल्पांश पण हृदयना अन्तरंग स्थानमां भास थाय तो पण परम भाग्य समजवुं. आ तात्पर्य प्रकट करवाने श्रीमत्प्रभुचरण आनन्दवल्लीने नीचे जणावेला प्रकारे योजे छे.

आनन्दवल्लीनो आरंभ 'ब्रह्मवित् आप्नोति परम्' 'ब्रह्मवित् परने प्राप्त करे छे' ए सूत्रवाक्यथी थाय छे. आचार्यो आ वाक्यने सूत्रवाक्य कहे छे. आने सूत्र कहेवानुं कारण ए छे के आ वाक्यमां अक्षरो स्वल्प छे, सारभूत छे, निःसन्दिग्ध छे, अनवद्य छे, अने सर्वमान्य छे. आ वाक्य ब्रह्मज्ञानने परप्राप्तिनुं साधन जणावे छे, परवस्तु सर्वव्यापक होवा छतां पण प्राप्य छे, गन्तव्य छे, अने तत्प्राप्ति जेने थई छे, तेने पुनरावृत्ति नथी एम सूचवीने बादरायणाचार्य साथे पोतानी संमति प्रकट करे छे. अत्र ब्रह्मविद् परने प्राप्त करे छे एम कही श्रुति आ ब्रह्मथी पर कोई अधिक छे एम पण स्पष्ट कहे छे. आ ब्रह्म शुं, आ पर शुं, परनी प्राप्ति शुं, इत्यादिनुं स्पष्टीकरण श्रुति निज शब्दोथी नहि करता ऋचाथी करे छे. महान् भगवदीयोनो अनुभवप्रकार परम निगूढ ऋचाद्वारा थाय ए सुयोग्य ज छे. 'ब्रह्मविन् आप्नोति परम्' ए सूत्रवाक्यनो अर्थ निरूपण करवावाली ऋचा आ छे, 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता.' आ ऋचा 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' ए चार शब्दोथी 'ब्रह्मविन् आप्नोति परम्' ए वाक्यना ब्रह्मशब्दनो अर्थ स्पष्ट करे छे, 'यो वेद निहितं गुहायां' ए शब्दोथी 'वित्' शब्दनो, अने 'परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' ए शब्दोथी 'आप्नोति परम्' ने स्पष्ट करे छे. 'ब्रह्मविन् परने (पुरुषोत्तमने) प्राप्त करे छे' ए वाक्यने ऋचा स्पष्ट करवाने कहे छे के 'सत्य ज्ञान अनन्त-आनन्द ब्रह्मने जे परम व्योमरूप हृदयाकाशमां स्थापित जाणे छे ते विपश्चित्

ब्रह्म साथे सर्व कामनो भोग करे छे.' ए विपश्चित् विविधरसभोगचतुर ब्रह्मनी साथे सर्वकामभोगने परम फल कह्युं छे, ब्रह्मज्ञान पछीनी अवस्थामां थती परप्राप्ति ते ज आ विविधरसभोगचतुर ब्रह्मनी साथेनो प्राप्त थयलो सर्वकामोपभोग ज छे. आ विचार करतां ब्रह्मज्ञान ए पुरुषोत्तमप्राप्तिनुं साधन थाय छे, अने पुरुषोत्तम-परब्रह्म ते फल थाय छे. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्' ए श्रुति जणावे छे के आ आत्मा-परमात्मा-प्रभु प्रवचनथी, मेधा-बुद्धिथी, बहु अध्ययन वगेरेथी प्राप्त थता नथी, जेनुं-जे जीवनुं प्रभु वरण करे छे, तेने ज ए प्रभु प्राप्त थाय छे, अने तेवा वृत जीवने प्रभु निजतनु तरीके वरे छे. अर्थात् प्रभुप्राप्तिमां कारण मात्र प्रभुनुं करेलुं वरण ज छे; प्रभुकृत वरण विना तत्प्राप्तिमां अन्य कारण नथी.

आ प्रकारे एक श्रुतिवाक्य ब्रह्मज्ञानने परप्राप्तिनुं साधन कहे छे, ज्यारे अन्य श्रुतिवाक्य प्रभुप्राप्तिमां वरणने ज साधन कहे छे, अर्थात् साधनमात्रने निषेधे छे. आम आपाततः श्रुतिमां परस्पर विरोध भासे छे. परन्तु श्रुतिओमां परस्पर विसंवाद होयज नहिं, सर्व श्रुतिओ एक ज प्रभुनुं गान करे छे; त्यारे आम भिन्नताथी निरूपणनुं प्रयोजन शुं! अहिं तात्पर्य आ छे. अक्षरब्रह्मना ज्ञानथी अविद्यानी निवृत्ति थाय छे, अविद्या निवृत्त थतां प्राकृत लौकिक धर्मो पण निवृत्त थाय छे, अने तेथी शुद्धि प्राप्त थतां पुरुषोत्तमनी प्राप्तिमां अपेक्षित स्वरूपयोग्यता संपादन थाय छे. स्वरूपयोग्यताथी संपन्न आवा शुद्ध जीवनुं स्वीय तरीके प्रभु ज्यारे वरण करे छे त्यारे तेनामां निरुपधि निरवधि प्रेम-भक्ति-नो प्रादुर्भाव थाय छे, अने आ प्रकारे स्वरूपयोग्यता अने प्रेम-भक्ति-साहित्य संपादन थतां पुरुषोत्तमनी प्राप्ति तेवा वृत जीवने थाय छे. त्यारे ज गुहामां परम व्योमनो प्रादुर्भाव थाय छे. आ हृदयाकाश परम छे कारणके परम-पुरुषोत्तमनुं यथार्थ दर्शन-तेनो यथार्थ अनुभव-अहिं ज थाय छे. अर्थात् गुहामां हृदयाकाशमां आविर्भूत परम व्योम ए अक्षरात्मक व्यापिवैकुंठ छे, अने ते पुरुषोत्तमना धामरूप होवाथी, त्यां प्रभुने विराजतां जे जाणे ते भक्त ब्रह्मनी साथे नित्य अविकृत-विविधरसभोगचतुर प्रभुसाथे सर्व कामनो भोग करे छे. आ ज परप्राप्ति. अत्र प्रथमा विभक्तिथी भोगमां भक्तनुं स्वातंत्र्य अने प्रभुनुं तृतीया विभक्तिथी गौणत्व श्रुति सूचवे छे. आ युक्त ज छे. प्राप्त फल ज्यां सुधी स्वाधीन न थाय त्यां सुधी तेनुं फलत्व ज घटे नहिं. निजवृत जीवना सकल मनोरथ पूर्ण करवाने तदिच्छानुसार तेना भक्तिवलथी तदधीन थइने सर्वस्वतंत्र प्रभु खेले छे. आने ज श्रीमदाचार्यचरण सेवाफलमां अलौकिकसामर्थ्य कहे छे. आ फल जीवकृतिसाध्य नथी, केवल दानैकसाध्य छे. 'नायमात्मा' श्रुति प्रभुप्राप्तिमां सर्वसाधनोनो निषेध एकवार करीने पुनः कथे छे के 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् बलयुक्त ज प्रभुने प्राप्त करे छे एम कहे छे, तेनो पण आ ज आशय छे. निज वरणथी जीवमां प्रेमातिशयनो-भक्त्यतिशयनो प्रादुर्भाव थाय छे, अने ते निरवधि निरुपधि प्रेमथी-भक्तिथी. प्रभु निज प्रभुत्वधर्मो-निज माहात्म्य तेने नहि दर्शावता-तेने अधीन थईने खेले छे; भक्तमनोरथपूरक थाय छे. निजवृतजीवना प्रेमबलथी-भक्तिबलथी सर्वस्वतंत्र प्रभु तदधीन थईने खेले छे एज प्रभुनो तेना उपर अत्यन्त अनुग्रह सूचवे छे. अनुग्रहात्मक पुष्टिमार्गनुं आ ज

उत्तमोत्तम फल छे, आनुं ज प्रतिपादन भगवती श्रुति अत्र करे छे, अने आ ज श्रुतिनुं उपबृंहण भगवान् व्यास श्रीमद्भागवतना दशमस्कंधमां गोपीकृष्णना प्रसंगथी करे छे.

तात्पर्य आ छे. श्रुति विपश्चित् ब्रह्मनी साथे सर्वकामोपभोग कथे छे, परप्राप्ति पण आ ज छे. तृतीय विभक्तिथी प्रभुनुं गौणत्व अने भक्तनुं प्राधान्य पण स्पष्ट छे. छांदोग्य उपनिषद् पण आत्मरति आत्मक्रीड आत्ममिथुन सर्वकामचार इत्यादिशब्दोथी भक्तनी आ ज अवस्थानुं प्रतिपादन करे छे. सर्वस्वतंत्र प्रभुनी साथे अल्प जीव भक्तनुं भोगसामर्थ्य न घटे तेथी प्रभु स्वतः हंसरूपे तेमां प्रवेश करे छे. 'द्वासुपर्णा' इति ए श्रुतिमां प्रभु अने भक्त उभयने पक्षी तरीके वर्णव्या छे, अने श्रीमद्भागवतमां 'एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः' ए वाक्यमां प्रभु अने भक्त उभयने हंस कह्या छे. पक्षीओमां हंस चातुर्यमाटे प्रसिद्ध छे. माटे अहिं पण श्रुति प्रभु तथा भक्तने हंसरूपे वर्णवे छे, अने ज्यारे प्रभु गतिप्रतिबंधक ओळंघीने हंसरूपे भक्तहंसमां प्रवेशे छे त्यारे तत्समान थईने भक्तने सर्व आनंदनो दानद्वारा अनुभव करावे छे. आ स्वरूपानन्दानुभव ज परम पुरुषार्थ छे तेथी श्रुति प्रभु तथा भक्तने पुरुषरूपे वर्णवे छे. शास्त्र पण पुरुषाधिकार लईने प्रवर्ते छे. भगवान् बादरायण पण परम मुक्तिनी अवस्थामां प्रभु तथा भक्तनुं भोगमात्रमां साम्य स्वीकारे छे. आ प्रकारे भक्तसाम्य स्वीकारीने स्वतः गौण थईने निजभूत भक्तना सकल मनोरथ प्रभु जे अवस्थामां पूरण करे छे ते ब्रह्मज्ञानथी पण उत्तम कक्षा छे.

अत्र ब्रह्मविन् परने प्राप्त करे छे एम कह्युं छे; आ ज ब्रह्मने ऋचा सत्य ज्ञान अनंत कहे छे, आ ज ब्रह्मना आनन्दनी गणना करे छे, आ ज ब्रह्मने आनन्दमयनुं पुच्छ—प्रतिष्ठा कहे छे; अर्थात् आ गणितानंद ब्रह्म ए पर—आनन्दमयनुं पुच्छ-प्रतिष्ठा छे; आनन्दमय-पर-नुं आ ब्रह्म आधार-धाम-छे. श्रीमद्भगवद्गीतामां अक्षरने प्रभु-पुरुषोत्तम-निज धाम कहे छे. अर्थात् आ ब्रह्म जेनुं ज्ञान पर-पुरुषोत्तमनी प्राप्तिमां योग्यता संपादन करे छे ते अक्षर ब्रह्म छे, गणितानन्द छे, पुरुषोत्तम—आनंदमयनुं (हंसरूपे होय त्यारे) पुच्छ, (पुरुषरूपे) धाम-प्रतिष्ठा-आधार-गृह छे. आ ज अक्षरने क्वचित् लक्ष्मी, शेष इत्यादि भावनाओ बहुधा योजाय छे.

श्रीमदाचार्यचरण रासपंचाध्यायीना आरंभमां 'ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने' ए कारिकामां आ ज श्रुतिनुं मर्म परम रमणीय रीते दर्शावे छे. जेम त्यां नित्यसिद्ध भगवदीयोने ब्रह्महृद द्वारा योग्यतानी अपेक्षा नथी, तेम अत्र पण निजांगमांथी प्रादुर्भवेली सृष्टिने साक्षात् पुरुषोत्तम ज स्वतः सर्व थवाथी अक्षरब्रह्मना ज्ञाननी अपेक्षा पडती नथी. आवा ज परम भगवदीयोने उद्देशीने श्रीमद्भागवत 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' एम मुक्तकंठे वदे छे. तेवा भगवदीयोने तो प्रभुकृतवरण ज सर्व छे. तेवा भगवदीयोमां जेमने योग्यता संपादन करावीने स्वरूपानंदनुं दान करवानो प्रभुनो संकल्प होय तेवाओने अक्षरब्रह्मनुं ज्ञान संपादन थया पछी, तेना अक्षरब्रह्मरूप हृदयाकाशमां स्वयं प्रकट थाय छे, त्यारे तेवा भगवदीयने ए अक्षरब्रह्म अव्यक्त इत्यादि नथी स्फुरतुं परन्तु भगवद्धामरूपे स्फुरे छे, अने ए अक्षरात्मक धाममां प्रभु-पुरुषोत्तम स्वतः गौण थईने निजभूतना सर्व मनोरथ पूर्ण करे छे. आ ज भगवद्धामने क्वचित् व्यापिवैकुंठ, गोकुल इत्यादि नामथी पुराणो वर्णवे छे, अने उपनिषदो एने दहरादि नामथी वर्णवे छे. आ धाम अक्षरात्मक

नित्य छे, कार्यलोक नथी. भगवान् बादरायण पण आ ज तात्पर्यने 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' ए सूत्रमां सूत्रे छे. अक्षरब्रह्मनुं ज्ञान थया पछी, अक्षर ब्रह्म प्राप्त थया पछी, भगवत्प्राप्ति थया पछी निज वरणमात्रथी, स्वस्वरूपबलथी प्रभु भक्तनो पृथगाविर्भाव करीने तेनी साथे विविध विलास करे छे, अने भक्तना निजवरणजन्य प्रेमातिशयथी तदधीन थाय छे. आ अवस्थाने आचार्यश्री अलौकिकसामर्थ्य कहे छे.

अत्र परम व्योम जेने कह्युं छे तेने पुराणमां क्वचित् व्यापिवैकुंठ, श्रीमद्गोकुल वृन्दावन वगेरे कह्युं छे. आ भगवल्लोक नित्य छे, कार्य नथी, पण पर–ब्रह्म छे. बादरि आचार्य आ भगवल्लोकने कार्य मानीने तेनी अनित्यता सूचवे छे, अने शंकर पण आ ज मतनो व्यासविरुद्ध थईने आग्रहथी स्वीकार करे छे. परन्तु जैमिनि अने व्यास उभय भगवल्लोकने कार्य वा अनित्य कहेता नथी, उभयना मते भगवल्लोक नित्य छे. रामानुज, मध्व, निंबार्क, नीलकंठ शैवाचार्य सर्व भगवल्लोकने ब्रह्मरूप नित्य माने छे, आ कोई पण आचार्य भगवल्लोकने अनित्य कार्य कहेवानुं धार्ष्ट्य करता नथी.

अत्र विपश्चित् ब्रह्म जेने कह्युं छे तेने उपनिषद् अगाडी रसरूपे आनन्दरूपे वर्णवे छे. बादरायणाचार्य एने ज आनन्दमय कहीने तेनी परब्रह्मता स्वीकारे छे. ब्रह्म जेनुं ज्ञान परब्रह्मनी प्राप्तिनी पूर्व कक्षानुं छे ते अक्षर ब्रह्म–वा–अक्षर धाम छे. आ ज अक्षर–ब्रह्म–धामने उपनिषद् हंसरूप पुरुषरूप आनन्दमय रसात्मक पुरुषोत्तमनुं पुच्छ–प्रतिष्ठा कहे छे. आ अक्षर ब्रह्म निर्गुण छे, तो पछी तदनन्तर प्राप्य विपश्चिद्ब्रह्म अने सर्वकामोपभोग सगुण केम होइ शके ? तेम मानवा जतां उपनिषद्मां स्पष्ट कथेलो साधनसाध्यभावनो व्याघात थाय. विष्णुपुराण पण 'देहेन्द्रियासुहीन' वैकुंठपुरवासीओने देह इन्द्रिय प्राणविनाना वैकुंठमां स्थिति करनारा कहीने भगवद्भक्तोनुं अलौकिक विग्रहवत्त्व, दिव्य तनुवत्त्व, स्पष्ट सूचवे छे. श्रुति पण अत्र विविधरसभोगचतुर ब्रह्मनी साथे–रसात्मक आनन्दमय–पुरुषोत्तमनी साथे भक्तनो सर्वकामोपभोग स्पष्ट कथती तेनुं अलौकिक विग्रहवत्त्व सूचवे छे.

आ प्रकारे परप्राप्तिनुं ऋचाथी भगवती श्रुतिए जे वर्णन कर्युं, ते आपणे जोयुं. हवे अगाडी सृष्टि आदिनुं निरूपण करता ग्रन्थनुं शुं तात्पर्य छे ते विचारीए. अहिं श्रुति आधिदैविकवाद उपदेशे छे. पुरुषोत्तम–परब्रह्म ज निरवधि आनन्दरूप परम फल छे, सर्व अंतरंगोमां पण अंतरंग छे, ते जणाववाने 'भगवान् प्राणना प्राण छे, चक्षुना चक्षु छे, श्रोत्रना श्रोत्र छे' ए श्रुतिना आधारे प्रभु सर्वना सर्वरूप छे एम प्रतिपादन करे छे. ए प्रभु सर्वना सर्वरूप होवाथी सर्वाधिदैविकरूप पण स्वयं छे ए जणाववाने आधिभौतिक वगेरे रूपथी प्रकट थवाने भगवान् आकाशरूपे प्रकट थाय छे; अने तेथी ज अहिं आकाशनुं कर्तृत्व कहीने ते भूताकाश नथी, पण भगवान्नी विभूति छे एम जणाव्युं छे. तेज प्रकारे वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि, अन्न ए सर्व प्राकृत पदार्थ नथी, परन्तु ए सर्व भगवान्नी विभूतिओ छे; भगवद्रूप छे.

त्यार पछी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, अने विज्ञानमय ए चार रूपनुं निरूपण कर्युं छे. तेमां अन्नमयनो *अन्तरंग प्राणमय छे, प्राणमयनो अंतरंग मनोमय छे, मनोमयनो अंतरंग* विज्ञान-

मय छे. आनन्दमय विज्ञानमयनी भीतर विराजे छे. एनुं पुरुषत्व–स्वतःसिद्ध साकारत्व दर्शावीने श्रुति एना आकारथी विज्ञानमय आकारयुक्त थाय छे, विज्ञानमयना आकारथी मनोमय आकार प्राप्त करे छे, मनोमयना आकारथी प्राणमय आकारयुक्त थाय छे, अने प्राणमयना आकारथी अन्नमय आकारयुक्त पुरुष थाय छे. अर्थात् पांच पुरुषोने आकारसमर्पक आनन्दमय ज छे.

आ पण अत्र ध्यानमां राखवानुं छे. आरंभमां श्रुति कहे छे के 'ब्रह्मविद् परने प्राप्त करे छे.' अने अन्ते ज्ञेय आनन्दनी गणना करी कहे छे के 'ते जे आ पुरुषमां छे, जे आ आदित्यमां छे ते एक छे.' आ वाक्यथी ब्रह्मविद् पुरुषमां अने आदित्यमां ते ज अक्षर ब्रह्म प्रतिष्ठित छे अने तेथी ते आनन्द पण अक्षरानन्द-गणितानन्द छे. आवुं गणितानन्द अक्षरब्रह्म जे जाणे छे ते क्रमशः अन्नमय वगेरे प्राप्त करीने अन्ते आनन्दमय आत्माने प्राप्त करे छे. अत्र श्रुतिमां आनन्दमय आत्मानुं संक्रमण करे छे एम कह्युं छे ते प्राप्तिना अर्थमां समजवुं. ज्योतिःशास्त्रमां पण आवो प्रयोग थाय छे. रवि मकरराशि प्राप्त करे छे त्यारे मकरसंक्रान्ति थइ एम कहेवाय छे. आ ज आनन्दमयनी प्राप्ति परम मुक्ति छे; कारणके आने अन्नमयादिपुरुषनी प्राप्ति थतां पूर्वे आ लोकनो त्याग ज थाय छे एम श्रुति निरूपण करे छे. माटे ज भक्तने पुरुषोत्तमानन्दनो अनुभव थाय छे त्यारे आ ज आनन्द 'अनुभवैकवेद्य' छे, मनवाणीनो विषय नथी एम जाणीने लोकवेदथी ते भय पामतो नथी, एम 'यतो वाचः' ए श्लोकथी श्रुति निरूपण करे छे. आ उपरथी स्पष्ट एम प्रतीत थाय छे के 'सोऽश्नुते'थी जे फल आरंभमां श्रुतिए कह्युं ते ज फलनुं विवरण अन्ते श्रुतिए कर्युं छे. नहि तो आ लोकना त्याग पछी देह नहि होवाथी, तदाश्रित भय क्यांथी होय, अने ते न होय तो श्रुति निषेध व्यर्थ शा माटे करे? कामभोग पण असंभवित ज थइ जाय.

आथी एम निश्चय थाय छे के भक्त लौकिक पूर्वदेहनो त्याग कर्या पछी साक्षाद् भगवद्भजनमां उपयोगी भगवद्विभूत्यात्मक संघात प्रथम प्राप्त करे छे. देह इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अने जीव पांच मळीने संघात थाय छे. तेमां स्थूल शरीर अन्नमय प्रथम विभूति छे प्राणमय द्वितीय विभूतिरूप छे. मनोमय तृतीय विभूतिरूप छे, कारण के मन सर्व इन्द्रियोनुं नियामक छे; अने अन्तःकरणात्मक होवाथी इन्द्रियान्तःकरणरूप छे. जीवतत्त्वात्मक विज्ञानमय चतुर्थ विभूतिरूप छे. अक्षरब्रह्मज्ञानयुक्त जीव ए विज्ञानमय विभूति छे. अत्र गुहामां भगवद्धरणथी परम व्योम प्रकट थाय छे, अने त्यां परम व्योममां पूर्णानन्दात्मक फलरूप पुरुषोत्तमस्वरूप प्राप्त करीने ऋचामां दर्शावेलो भोग प्रभु साथे भक्त प्राप्त करे छे.

अत्र अन्य पण विचारणीय छे. 'पुरश्चक्रे द्विपदः' ए श्रुतिप्रमाणे भगवान् वस्तुतः पुरुष छतां पुरना संबंधी थइ, पक्षी थइ पुरोमां प्रवेश करे छे. तैत्तिरीयश्रुतिमां-प्रकृत श्रुतिमां अन्नमयादिने पक्षिरूप वर्णव्या छे. आम होवाथी एक पुरमां (शरीरमां) विभूतिरूप पांच पक्षीओनो प्रवेश कहेवो उचित नथी. त्यारे क्या पुरमां कोने प्रवेश थाय छे एनो विचार करतां अन्नमयादि पांचे पक्षीमां अप्राकृतत्व अने ब्रह्मत्वमां विशेष नहि होवाथी, तेम अन्य ... नहि होवाथी क्यांतो सर्वनो सर्वत्र प्रवेश वा अप्रवेश प्राप्त थाय. ...

आ शंकानुं समाधान आम दिशे छे. 'आ लोक त्यजीने' ए वाक्यमां 'आ' शब्दना प्रयोगथी भक्त प्राकृत गुणमय प्रपंच त्यजीने गुणातीत साक्षात् लीलोपयोगी प्रपंच प्राप्त करे छे एम लागे छे. तत्प्राप्तिथी ज भगवद्भाव संपन्न थतां प्रथम अति तीव्र सर्वोपमर्दक भगवान्ना विरहभावथी-विप्रयोगथी, तेना (भक्तना) शरीर इन्द्रिय, प्राण अन्तःकरण नष्ट ज थइ जाय जो ते ते रूप प्रभु ते तेमां प्रविष्ट न होय तो, अने जीवनो ब्रह्ममां ज लय थवाथी भगवन्नी लीलाना अनुभव विना तो ते लय मोक्ष नहि, पण नाश थयलो गणाय. आवी रीते ते ते रूप ब्रह्म ते तेमां स्थित छे तेथी तेमनो नाश थतो नथी.

अहीं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय वगेरे प्राकृत पदार्थ नथी, विकारशील अनित्य, अब्रह्म पदार्थो नथी. भृगुवल्लीमां भृगु वरुणनी पासे ब्रह्मविद्यानो उपदेश प्राप्त करवाने जाय छे. वरुणे तेनो उत्तम अधिकार नथी एम जाणीने, पोते ब्रह्मस्वरूप कह्युं नहि, परन्तु तपथी अधिकारातिशय प्राप्त थतां भृगुने स्वतः ब्रह्मस्वरूपनुं ज्ञान थशे एम जाणीने सर्वत्र तप करवानो उपदेश कर्यो; ब्रह्मथी अतिरिक्त भिन्न साधनथी ब्रह्मज्ञान थवुं अशक्य होवाथी तपनी ब्रह्मता उपदेशी-ब्रह्म तरीके करेला तपोरूप साधनथी ज्ञात थयला अन्नमयादिरूपो प्राकृत पदार्थो छे एम कोई न्यायशील विचारक स्वीकारी शके एम नथी. भृगुए अन्नमयादिना ज्ञान थया पछी पण जे ब्रह्मजिज्ञासा करी छे तेथी पण अन्नमयादिनुं ब्रह्मत्व दूर थतुं नथी. भगवान्नी विभूतिओ अनन्त छे. जे रूपथी जेटलुं कार्य करवुं होय तेटलुं ज ते रूपथी, समर्थ होवा छतां, अन्य कार्य भगवान् करता नथी. प्रभुनी लीला ज आ प्रकारनी छे. आ प्रकारे अन्नमयादिरूपथी क्षुद्र फलनुं दान करे छे. हीनाधिकारीओनी आकांक्षा तेटलाथी निवृत्त थाय छे. वस्तुस्थिति आम होवाथी जेवा अधिकारथी अन्नमयना स्वरूपनुं ज्ञान थाय छे, तेवो ज्ञानयुक्त अधिकार तेने प्राप्त थतां, फल पण तदधिकारानुसार प्राप्त थाय छे. एम प्राणमय वगेरेमां पण समजवुं.

आ प्रकारे आकाशादिरूप आधिभौतिक स्वरूप छे एम कहीने अन्नमयादि पुरुष आध्यात्मिक स्वरूप छे एम कहेती 'आ तेनुं शिर छे' इत्यादिथी श्रुति ते अन्नमयादि पुरुष पक्षिरूप छे एम कहे छे. कारणके आध्यात्मिक पुरुष पक्षिरूपे ज आधिभौतिक स्वरूपमां प्रवेश करे छे. आवुं ज निरूपण वाजसनेयिशाखामां पण कर्युं छे. 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः, पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशद्'. वस्तुतः तो पुरुष ज छे, परन्तु पुरना संबन्धी थई पक्षी थईने पुरमां-शरीरमां-प्रवेश करे छे. प्राकृत विविध पुरमां अप्राकृत एकविधनो प्रवेश यद्यपि अनुचित छे, तथापि स्वप्रवेश विना कांई पण थई शके नहि एम होवाथी गतिनां प्रतिबंधकने ओलंघीने अलौकिक गतिथी आप प्रवेश करे छे, ते जणाववाने आप पक्षी थाय छे. प्रभु सर्वभवनसमर्थ छे.

आम आधिभौतिक अने आध्यात्मिक पुरुषोनुं निरूपण करी आधिदैविक पुरुष आनन्दमयनुं निरूपण करे छे. आध्यात्मिक पुरुष जेम प्रतिशरीर भिन्न छे तेम आनन्दमय नथी ते जणाववाने 'यः पूर्वस्य'-एम श्रुतिए सर्वत्र निरूपण कर्युं. आनन्दमय परमाकाष्ठापन्न एक ज अद्वितीय छे. अन्नमयादि पांचे पुरुषनो आत्मा-आनन्दमय छे. अहिं आ तात्पर्य छे. ईश्वरथी अन्य सर्वनो एक आत्मा कोई थई शकवाने योग्य नथी. सर्वना प्रभु एकला ज आत्मा छे, अने ते पोते

आनन्दरूप छे एम श्रुति पोते ज निर्णय करे छे. श्रुतिमां कह्युं छे के 'ए प्रभुनी आनन्दनी एक मात्रा उपर, एक अंश उपर, तदितर अन्य सर्वे भूतो जीवे छे, ए प्रभु पोते रस छे, ए रसने प्राप्त करीने आ जीव आनन्दी थाय छे. कोण जीवी शकत, कोण प्राण धारण करी शकत, जो ए आकाशरूप आनन्द न होत तो. ए ज प्रभु आनन्दनुं दान करे छे.' आ श्रुतिओथी एम स्पष्ट प्रतीत थाय छे के ए ज आनन्दमय सर्वना आत्मरूप छे अने ए ज पुरुषोत्तम–पर–छे. आनन्दमय ज पुरुषोत्तम पर छे ते भृगुवल्लीथी पण स्पष्ट थाय छे. त्यां पण जेम अन्नमयादिना ज्ञान थया पछी भृगु पुनः प्रश्न करे छे तेम आनन्दमयना ज्ञान थया पछी अधिक जिज्ञासार्थे प्रश्न करतो नथी. जीवमां तो आनन्दमय पुरुषोत्तम प्रवेश छे. आनन्दमय पुरुषोत्तम रसात्मक होवाथी आनन्दात्मक ज विरहभावरसाब्धिनो अनुभव करीने पछी प्रादुर्भवेलुं प्रभुस्वरूप प्राप्त करीने 'क्यांहि पण भय पामतो नथी' ए वाक्यथी लोकनो, अने 'ए विचार करतो नथी के में पुण्य केम न कर्युं, के पाप केम कर्युं.' ए वाक्यथी वेदनो भय आ तदनुभववान् भक्तने रहेतो नथी.

शरीर, प्राण, मन, अन्तःकरण, जीवात्मा ए सर्व भगवान्ना शरीर छे एम वाजसनेयि शाखाना अन्तर्यामिब्राह्मणमां कह्युं छे. त्यां सर्वभूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, अने अन्य आत्मा ए सर्वेने प्रभुना शरीर कह्यां छे. अहि भक्तोना पूर्वोक्त निर्गुण देहो प्रभुना चरणारविन्दनी रजमांथी आविर्भाव पामेला होवाथी ए भूतरूप होवाथी ए ब्रह्मना शरीररूप थाय छे. अन्नमयब्रह्मना प्रवेशथी विरहदशापन्न अन्नमयनी स्थिति रहे छे, प्राणमयब्रह्मना प्रवेशथी प्राणमयनी स्थिति रहे छे, मनोमयब्रह्मना मनमां प्रवेशथी तेनी स्थिति रहे छे, ज्ञानेन्द्रियरूप विज्ञानमयमां विज्ञानमयब्रह्मना प्रवेशथी तेमनी स्थिति रहे छे; अने जीवमां तो आनन्दमय साक्षात् प्रवेश करे छे तेथी तेनी स्थिति रहे छे.

आ प्रकारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, अने आनन्दमयने श्रुतिए शा कारणथी पक्षिरूपे वर्णव्या छे ते स्पष्ट थयुं. आनन्दमयने शारीर आत्मा शाथी कह्या तेनुं तात्पर्य स्पष्ट करीए. आनन्दमय निगूढ रसात्मक भावात्मक होवाथी विशेष कहेवुं अशक्य होवाथी 'य पूर्वस्य' एम सर्वत्र श्रुति कहे छे. शरीरना प्रवेश माटे अपेक्षित पक्षिरूप पांचे पुरुषोमां साधारण होवाथी तेमां तेवो प्रवेश दर्शाववाने श्रुति आनन्दमयना संबंधमां पण तेम निरूपण करे छे, अर्थात् पूर्वेनो जे शारीर आत्मा आरम्भमां जगत्कर्ता तरीके कह्यो तदभिन्न ज आ छे. आ प्रकारे जेम पारसमणिना स्पर्शथी रजतादि सुवर्ण थाय छे, तेम उपर दर्शावेला प्रवेशना आश्रयरूप अन्नमयादिनुं भगवद्रूपत्व कह्युं छे.

वस्तुतः आ सर्व परोक्षवाद छे. ब्रह्मविद् परने प्राप्त करे छे ए सामान्यरीते ब्रह्मविद्नी परप्राप्ति कहीने, ए वाक्यनुं तात्पर्य 'सत्यं ज्ञानं' ए ऋचाद्वारा निरूपण कर्युं. त्यां सर्वात्मभाववान् भक्त भगवान्नी साथे भगवदात्मक कामोनो अनुभव करे छे एम ऋचाए करेला व्याख्यानथी समजाय छे. उक्त भक्तने तो सदैव, अने विरहभावमां तो विशेषताथी, प्रियस्वरूपथी अतिरिक्तनी स्फूर्ति नहि थवाथी, तेवा भक्तना अन्न, प्राणादिरूप भगवान् स्वतः ज थाय छे, ते जणाववाने अत्र श्रुति भगवान्ना अन्नमयादिस्वरूपोनुं निरूपण करे छे.

आथी भक्तनुं प्रभुविषयक परम प्रेमतत्त्व सिद्ध थाय छे. त्यारे ए प्रेमतत्त्वथी भगवदाविर्भाव थवा छतां विरहभाव अतितीव्र होवाथी ज्ञानादि सर्व तिरोधान थयलुं होवाथी संयोगरसानुभव न थइ शके तेथी प्रभु ज स्वयं ते भक्तना अनुभवात्मा थाय छे. ए जणाववाने प्रभुनुं विज्ञानरूप कह्युं छे. त्यार पछी अनुभवविषय प्रकट आनन्दमय प्राप्त थाय छे तेथी तेना स्वरूपनुं श्रुति निरूपण करे छे. आनन्दमयना स्वरूपमां निरुपधि प्रीति ज मुख्य छे, अन्य नहि, ते जणाववा प्रियने प्रेमने आनन्दमयनुं प्रधान अंग शिर-मस्तक-कह्युं छे. त्यार पछी प्रियना दर्शनादिथी आनन्दात्मक ज विविधरसभावनो संदोह उत्पन्न थाय छे ते आनन्दमयनी दक्षिण-जमणी पांख कहेवाय छे. आनन्दमय प्रभुनो ए दक्षिण बाहु छे. त्यार पछी स्पर्शादिथी पूर्वभावथी विलक्षण प्रकृष्ट आनन्दनो संदोह जे उत्पन्न थाय छे तेने उत्तर पक्ष, वा वाम पांख कहे छे. आनन्दमय प्रभुनो ए वाम बाहु छे. नाना प्रकारना भिच्छना-भावना-समूहात्मक ए मय होवाथी तत्कथन पण युक्त छे. शृंगाररस स्थायिभाव एक ज आनन्दस्वरूप होवाथी तेने आत्मा कह्यो छे, कारणके तेमांथी ज विभाव अनुभावादिथी विविध भावनी उत्पत्ति थाय छे. स्वप्राप्तिनी साधनभूत ब्रह्मज्ञानदशामां तदानन्द जे पूर्वे अनुभूत थयो ते गणितानन्द होवाथी पण आ आनन्दात्मक पुरुषोत्तमना अनुभव पछी तुच्छ भासे छे, ते इष्टगतिमां पण असाधनरूप होवाथी आनन्दमयना स्वरूपथी तेनी हीनता, अने ते पृष्ठभागे होवाथी दूरस्थित पुच्छरूपता ब्रह्मनी लागे छे. आ (अक्षर) ब्रह्म पुरुषोत्तम रसात्मक आनन्दमयनुं अधिष्ठान गृहरूप होवाथी तेने अहीं प्रतिष्ठारूपे वर्णव्युं छे.

आ प्रकारे अक्षर ब्रह्मथी आनन्दात्मक रसात्मक पुरुषोत्तम पर-अधिक होवा छतां स्वयं गौण अप्रधान थइने भक्तमनोरथ पूरण करे छे ते कथनमां असंभावना विपरीतभावना थाय ते दूर करवाने 'असन्नेव स भवति' ए श्लोक श्रुति कहे छे. पोताने अनुभव न होय तो पण गुरुना उपदेश थी पण आवा आनन्दात्मक रसात्मक पुरुषोत्तमनुं अस्तित्व मात्र पण जे जाणे छे, तेने ब्रह्मविद् लोको सन्त सत्त्वधर्मविशिष्ट अने वर्तमान जाणे छे. तेथी अगाडी कहे छे 'ब्रह्म छे एम जो जाणे तो'. 'आवुं ब्रह्म जे जाणतो नथी ते असन् छे' एम कहीने, 'तेनुं अस्तित्व जे जाणे छे ते सद् थाय छे' एम कह्या विना 'एने सन्त तेओ जाणे छे' एम तत्त्वथी अन्यज्ञान जे कह्युं तेथी उक्त पुरुषोत्तमना आनन्दना अनुभववान् जीवने ज्ञानक्रियाविशिष्ट अने वर्तमान तेओ जाणे छे, अनुभव विना केवल गुरूपदेशथी आवुं रसात्मक साकार आनदमय ब्रह्म छे एवुं जो जाणे तो तेने स्वरूपथी तेओ सद् छे एम जाणे छे, ज्ञानादिमान् नहि. आवा रसात्मक साकार पुरुषोत्तम ब्रह्मना अस्तित्वनुं पण जेने ज्ञान नथी ते तो अलीकतुल्य छे एम श्रुतिनुं तात्पर्य जणाय छे.

आम विचारचातुर्येयुक्त सत्पुरुषो तमे।
मानो आनन्दसन्दोह श्रीकृष्ण व्रजराजमां ॥ १ ॥

आ प्रकारे आनन्दवल्लीनुं भगवन्मयत्व श्रीमदाचार्यचरणनी अने श्रीमत्प्रभुचरणनी दृष्टिथी जोयुं. अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय अने आनन्दमय सर्व भगवान् छे. अन्नमयादि जीवकोश वा जीव नथी; पण सर्व ब्रह्म छे, भगवद्रूप छे, भगवदभिन्न छे. उपनिषन्मात्रनी ज्यां

सुधी भगवन्मयता स्पष्ट प्रतीत न थाय त्यां सुधी तत्तात्पर्यनुं अवगाहन संदिग्ध ज समजवुं. आ शुद्ध दृष्टिबिन्दु जणाववाने श्रीमदाचार्यचरणे अन्नमयादिने, श्रौत शब्दोने अनुसरीने, भगवद्विभूतिरूप कह्या, अने आनन्दमयने परब्रह्म पुरुषोत्तम कह्या. श्रीमत्प्रभुचरणे पण आधिदैविकवादनो आश्रय लईने अन्नमयादिने भगवत्स्वरूप तरीके वर्णव्या छे, अने आनन्दमयने रसात्मक पुरुषोत्तम वर्णवी तेनुं परम प्रेमनुं ज विषयत्व निरूपण कर्युं छे. आ प्रकारे आ उपनिषद् भगवान्नुं ज प्रतिपादन करे छे, जीवनुं नहि. मात्र आ उपनिषद् नहि पण सर्व उपनिषद् भगवान्नुं ज प्रतिपादन करे छे. उपनिषद्ने वेदान्त वा रहस्यविद्या कहे छे. वेदनुं परम रहस्य अत्र ज निरूपण थयलुं छे. ऋग्वेद संहिताना प्रथम 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ए मन्त्रथी आरंभी उपनिषद्मात्र पर्यन्तना वेदविभागने आचार्यो श्रुति तरीके वर्णवे छे. आ अखिल वेदविभागने श्रुति कहेवानुं प्रयोजन छे. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' ए श्रौतशब्दो अने भगवद्वाक्यथी वेदमात्रनो मुख्य विषय, मुख्य अर्थ भगवान् छे एम निश्चय थाय छे. आ ज आशयथी कह्युं छे के 'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः। तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः'. अर्थात् सर्व वेदोनो विषय भगवान् छे, एटलुं ज नहि परन्तु द्विजातिए उच्चारेला वेदना यावन्मात्र शब्दो पण हरिनां नाम छे. वेदने आचार्यो भगवान्नी नामलीला कहे छे, ए नामलीला जीवने संसारमांथी मोक्षनुं दान करवावाळी छे. रूप प्रपंचमां निज अंशो आसक्त थयला छे तेने तेमांथी मुक्त करवाने, अने निजस्वरूप तेमने दर्शाववाने प्रभुए वेदनुं प्राकट्य कर्युं. उपनिषन्मात्रनी, वेदमात्रनी, शास्त्रमात्रनी एकवाक्यता शुद्ध स्वरूपे त्यारे ज सिद्ध थई कहेवाय के ज्यारे सर्वनुं भगवदर्थकत्व निसंदिग्धरीते हृदयमां स्फुरे अने निःसंकोचथी तेनो प्रकट स्वीकार थाय. भगवान् विना एवी कई वस्तु छे के जे सर्वनो आश्रय थई शके. सर्वनुं परम निधान भगवान् छे. भगवाने पोतानुं सर्वत्व, सर्वमयत्व, सर्वात्मकत्व प्रतिपादन करवाने–निज अंशोने–जणाववाने एक होवा छतां अनन्त प्रकारे स्वतः, भिन्न भिन्न ऋषिओ सन्मुख, प्रकट थई, तदधिकारानुसार भिन्न भिन्न स्वरूपे दर्शन दीधुं. भगवत्स्वरूपनो जेवो अनुभव पोताने थयो, तेवो उपदेश पोताना वंशयोने करवाने ऋषिओए निज निज अनुभवनो संग्रह कर्यो. आ संगृहीत उपदेश ते वेदनी शाखा थई. आ प्रकारे वेदनी शाखाओ अनन्त थई. भगवान्ना स्वरूप अनन्त तेम तत्प्रतिपादक वेदनी शाखाओ पण अनन्त. ऋषिओने भगवत्स्वरूपनो अनुभव निज अधिकारानुसार ज थयो, अने ते भिन्न अधिकारने लईने भगवत्स्वरूपना वर्णनमां भिन्नता आवी. कोईए प्रभुने आत्मा कह्यो तो कोईए एने ब्रह्म कह्युं, कोईए एने अक्षर तो कोईए एने आनन्दमय कह्युं. कोईए एने वैश्वानर, सद्, पुरुष, आकाश, दहर, प्राण, इत्यादि यथारुचि नामथी व्यवहार्युं. ज्यां सुधी भगवत्सांनिध्य रह्युं त्यां सुधी तो आ भिन्न नाम अने वर्णनथी ब्रह्मस्वरूपमां संभ्रम न थयो, परन्तु ज्यारे भगवदावेश जेम जेम न्यून थतो गयो तेम तेम मन्द मध्यम अधिकारीओनां मनमां शंकाओ उत्पन्न थई. आ शंकाओ एटले सुधी वृद्धि पामी के वेदनो मुख्य अर्थ भगवान् छे ते प्रकट तात्पर्यनी पण विस्मृति थई, अने वेदमात्रनी परम रमणीय एकवाक्यताने स्थाने अनन्त विरुद्ध कल्पनाओ उद्भवी. आ विरुद्ध कल्पनाओमांथी सांख्यादि शास्त्रो उद्भव्यां.

तात्पर्य ए थयुं के भगवद्रूप वेदमांथी भगवान्‌नी विस्मृति थई. आ विस्मृतिथी अलौकिक वेदमां लौकिक भावनाओ थवा लागी.

आ प्रकारे वेदार्थनो विप्लव थयलो तेने दूर करवाने भगवान् स्वयं बादरायण व्यासरूपे प्रकट थया, अने ब्रह्मसूत्रोद्वारा सकल वेदार्थने संग्रही, पुनः वेदार्थनी भगवद्रूपता निष्प्रत्यूहरीते स्थापन करी. जेम वेद भगवाननुं प्रतिपादन करे छे तेम व्याससूत्रो पण भगवाननुं ज सर्वत्र प्रतिपादन करे छे. भगवान् सिवाय अन्यपदार्थनुं ब्रह्मसूत्रमां जेने दर्शन थाय तेने ब्रह्मसूत्रनुं तात्पर्य सर्वथा अज्ञात ज छे. भगवान् बादरायण व्यासे 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' ए सूत्र सूत्रीने आनन्दमय प्रभुनी परम ब्रह्मता निःसंदिग्ध शब्दोमां कही छे. ते स्पष्ट शब्दोनो अनादर करी आनन्दमय तो ब्रह्म नथी, विमुक्तावधि जीव छे एम कल्पना करनाराओ वेदार्थथी विमुख थाय छे. अत्रत्य के पाश्चात्य विद्वानो गमे ते प्रकारे कहो, परन्तु ज्यां सुधी वेद, वेदार्थ सर्व भगवान् छे एम न मानो त्यां सुधी सर्वे अन्य कल्पनाओ वा तत्कल्पनानी स्तुतिओ भ्रान्त छे. आनन्दमय एज परम तत्त्व छे, रसरूप पण ते ज छे, ए रस ते ज आनन्द छे, ए रसनी प्राप्तिथी ज आनन्दयुक्त थवाय छे, ए आनन्दनी मात्रा उपर अन्य भूतो जीवे छे इत्यादि परमसुन्दर भावनाओ हृदयने स्पर्श न करे, 'मोद-ए आनन्दमय प्रभुनो दक्षिण श्रीहस्त छे, प्रमोद ए एनो वाम श्रीहस्त छे, प्रेम-प्रिय-एनुं वरांग छे, आनन्द एनुं स्वरूप छे' इत्यादिथी वर्णवेला सदानन्द आनन्दमयमां दुःखना अस्तित्वनी संभावना हृदयमां स्फुरे, ते लोको वेदार्थनुं तात्पर्य केटलुं समज्या ए तो प्रभु ज जाणे. वस्तुतः व्यासोक्त ज शास्त्रार्थ मन्तव्य छे. अने व्यासथी विरुद्ध मनमात्र एकदेशि छे, वा भ्रान्त छे.

व्यासे स्वतः आनन्दमय ब्रह्म छे एम कह्युं ज छे, आनन्दमयमां मयट् प्रत्यय प्राचुर्यवाची छे, विकारवाची नथी एम स्पष्ट सूत्र्युं छे. ते ज प्रकारे ए आनन्दमयने आचार्यश्री तथा श्रीमद्विट्ठलेश्वर परब्रह्म तरीके स्वीकारे छे. उपनिषद्‌ना स्पष्ट शब्दोनो विचार करता पण आ ज तात्पर्यने पुष्टि मळे छे. श्रीमदाचार्यचरण ब्रह्मवाद स्थापन करवाने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय अने आनन्दमय ए पांचने अनुक्रमे विराड्देह, आसन्य, वेदनारायण, अक्षर ब्रह्म अने परम ब्रह्म तरीके स्वीकारे छे. आनन्दमय प्रभुनुं आ प्रकारे स्थापित करेलुं परम ब्रह्मत्व स्वीकारीने तत्प्रतिपादक शब्दोमांथी सूचित प्रेममार्ग प्रकट करवाने आधिदैविकवाद श्रीमद्विट्ठलेश्वर योजे छे. निरवधि निरुपधि प्रेमयुक्तने निज प्रेमनो विषय ज जीवन, प्राणपोषक छे, परम निर्दुष्ट तो प्रभु ज छे, ते सर्व दर्शाववाने अहि आनन्दमय प्रभुना अन्नमय अने प्राणमय स्वरूपो वर्णव्या छे. प्रेमयुक्तनुं जीवन टकवां, प्राण टकतां तेना मनमां तद्विषयक संकल्पादि थाय छे, ते दर्शाववाने प्रभुनुं मनोमय स्वरूप वर्णव्युं छे. त्यारपछी हृदयमां अनुभवातुं भगवत्स्वरूप ते विज्ञानमय छे. हृदयमां अनुभव थया पछी, विप्रलाप उत्कट थतां ए प्रभुनुं बहिर्दर्शन थाय छे. आ बहिर्दर्शनमां आवतां प्रभु ते आनन्दमय छे, आ दर्शनथी रम्भंगादि अवस्थाना अनुभवरूप मोद एने थाय छे, त्यार पछी प्रभुना स्पर्शादि सुखथी प्रमोद थाय छे, 'रसो वै सः, रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति' ए वाक्योनो साक्षादनुभव करे छे, प्रभुकृत सर्व सुकृत छे, अने तदितरकृत सर्व दुष्कृत वा अकृत छे तेनो पण अनुभव थायछे, अक्षर-ब्रह्म-धामनो

आनन्द गणित होवाथी आनन्दमय प्रभुना निरवधि आनन्द अनुभव्या पछी गौण कक्षारूप लागे छे. आनन्दमयनुं प्रेमातिशयथी प्राकट्यादि थतां तेनुं नित्य विग्रहवत्त्व पण अर्थाक्षिप्त स्फुरे छे. आ ज आनन्दमय रस छे. वस्तुतः रस एक ज छे, अने ते केवल शृंगार ज छे. हास्यादि अन्य रसो जे भरतादि शास्त्रकारोए गणाव्या छे, तेमनुं रसत्व पण शृंगारथी ज प्राप्त थाय छे. जेम जगत्‌नुं सत्यत्व ब्रह्मथी भासे छे, तेम अन्य रसोनुं रसत्व शृंगारथी प्राप्त थाय छे. अथवा जेम ब्रह्म स्वतः अविकृत रहीने जगद्रूपे परिणमे छे, तेम एक ज उत्कट प्रेमात्मक शृंगार–रस–आनन्दमय–स्वतः अविकृत रही हास्यादिरूपे अनुभवाय छे. आनन्दमय–रसात्मक पुरुषोत्तमनी निजांगमांथी प्रादुर्भूत साक्षाद् अलौकिक सृष्टि आनो अनुभव करे छे. आवा अनुभववान्‌ने श्रुति सन्त जाणे छे. अनुभववान्‌ने सत्त्वधर्मविशिष्ट ज्ञानक्रियाविशिष्ट महानुभावो जाणे छे. अनुभव स्वतः न होय परन्तु आवुं रसात्मक पुरुषोत्तम जेवुं कांइ पारलौकिक वस्तु छे एटलुं ज मात्र जो गुरूपदेशथी माने ते लोकोने महानुभावो मात्र सन्त–वर्तमान जाणे छे. आवा रसात्मक अनुभवैकवेद्य–लोक-वेदातीत–आनन्दप्रचुर–परमप्रेमविषय–साकार–पुरुषोत्तमनुं अस्तित्व मात्र पण जेमने स्फुरतुं नथी ते तो स्वतः गगनकुसुम जेवा छे, एम श्रुतिनुं हृदय छे.

आथी स्पष्ट समजाशे के श्रुतिनुं तात्पर्य मायावादमां नथी. श्रुति मात्र ब्रह्मप्रतिपादक–अलौकिक छे. ए अलौकिक शब्दोमां अलौकिक आनन्दमय प्रभुनुं दर्शन नहि थतां, जीवकोशनुं–लौकिकनुं–जेमने दर्शन थाय छे, अने तेने ज परमतत्त्व मानीने यद्वा तद्वा यशोगान करी रह्या छे, तेमने वास्ते आपणे कांइ कहु वक्तव्य नथी. प्रभु सर्वभवनसमर्थ छे. ते प्रकारे पण लीलावैचित्र्य प्रकट करे छे, परन्तु श्रुतिना स्पष्ट शब्दोमांथी तो क्यांहि पण ए तात्पर्य छेशथी पण शोध्युं जडतुं नथी. गगनकुसुमसदृश मायावादना यशोगान करवामां कालक्षेप करवा करतां, आनन्दमयना गुणगान करवानुं आवा जीवोने केम स्फुरतुं नथी, अथवा प्रभु तेम करवाने तेमने नहि प्रेरीने अधिकारन्यूनता–वा–स्वकृपान्यूनता–सूचवता तो नथी ? गमे तेम हो, परन्तु आनन्दमयना रसात्मक पुरुषोत्तमना–गुणगान–अनुभव–विनानुं जीवन तो केवल निष्फल छे.

प्रसीदतु मयि श्रीमद्वल्लभः प्राणप्रियोत्सवः ।
येन भाति जगत् सर्वं विना येन न तत्तथा ॥ १ ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।



तैत्तिरीयोपनिषद् ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतभाष्यसमेता ।

बर्हिबर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम् । दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभङ्गललितं महः ॥ १ ॥
प्रणमामि हरिं श्रीमद्वल्लभाचार्यरूपिणम् । श्रीविट्ठलेश्वराख्यांश्च प्रभून् स्वाभीष्टसिद्धये ॥ २ ॥
श्रीमद्गोकुलनाथान् श्रीमत्कल्याणरायगुरुचरणान् ।
नामनिवेदनदातॄन् प्रणमामि मुहुर्मुहुः प्रेम्णा ॥ ३ ॥
तैलङ्गयज्वचिन्तामणितनयो मठपतिस्त्वविख्यातः ।
जयगोपाल उपनिषद्भाष्यं वितनोति तैत्तरीयायाम् ॥ ४ ॥
शङ्करैस्तु कृतं भाष्यं मायावादानुसारि हि । ब्रह्मवादविरुद्धं तदिति मेऽयं समुद्यमः ॥ ५ ॥

तत्र तावदुपनिषदोनेकविधाः, काश्चन केवलपूर्णपुरुषोत्तमतत्प्राप्तिसाधनप्रतिपादिकाः, काश्चन केवलपुरुषोत्तमस्वरूपप्रतिपादिकाः, यथा गोपालतापिनीकृष्णोपनिषदादयः । काश्चन पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूपतत्प्राप्तियोग्यतासम्पादकाक्षरब्रह्मज्ञानविषयीभूताक्षरब्रह्मस्वरूपस्य पुरुषोत्तमस्वरूपस्य पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगरूपफलस्य च प्रतिपादिकाः, यथा तैत्तिरीयोपनिषन्मुण्डकोपनिषदादयः । काश्चन केवलविभूतितत्प्राप्तिसाधनप्रतिपादिकाः, यथा वासुदेवोपनिषन्नारायणोपनिषदादयः । काश्चन केवलाक्षरब्रह्मतत्प्राप्तिसाधनप्रतिपादिकाः, यथा बृहदारण्यकछान्दोग्योपनिषदादयः । काश्चन मुक्तिसाधनीभूतभक्तिज्ञानाङ्गसंन्यासवैराग्ययोगसांख्यादिप्रतिपादिकाः, यथा संन्यासोपनिषदारुणेयोपनिषत्कण्ठश्रुत्युपनिषद्गर्भोपनिषदद्वैताख्योपनिषदलातशान्त्युपनिषदमृतबिन्दूपनिषत्तेजोबिन्दूपनिषद्योगशिखोपनिषद्योगतत्त्वोपनिषदादयः । काश्चन भक्तिज्ञानसाधनश्रवणादितत्साधनशरीरादीनामाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकाद्युपद्रवनिवारकसाधनप्रतिपादिकाः, यथा गरुडोपनिषदादयः ।

तत्रेयं तावत्तैत्तिरीयोपनिषत् पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूपतत्प्राप्तियोग्यतासम्पादकाक्षरब्रह्मज्ञानविषयीभूताक्षरब्रह्मस्वरूपस्य पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगरूपफलस्य च प्रतिपादिका व्याख्यायते । तत्र गोपालतापिनीकृष्णोपनिषदौ तु स्पष्टार्थे एव । मुण्डकोपनिषद् दुरूहापि त्वेतदपेक्षया स्वल्पेति पश्चात् व्याख्यास्यते । तत्र ' शं नो मित्रः, ' ' अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः ' इत्यारभ्यानन्दवल्लीमध्यो भृगुवल्ल्यन्तस्तैत्तिरीयोपनिषत्पूर्वखण्डः, द्वितीयखण्डस्तु 'अम्भस्यपार' इत्यारभ्य 'इति महोपनिषत्समाप्ते'त्यन्तः । तत्र ' शं नो मित्रः ' 'अथ शीक्षां व्याख्यास्याम'

इत्युपासनाकाण्डं पश्चाद् व्याख्यातव्यम् । अत्युत्कण्ठावशेनानन्दवल्लीभृगुवल्ल्यावेव क्रमेण पूर्वं व्याख्यायेते ।

तत्रैतद्व्याख्यानम् किं शक्तिवृत्तिप्रतीतार्थपरतया अथवा परस्परविरुद्धार्थश्रुतिषु स्वोत्प्रेक्षिततर्केण तात्पर्यप्रतीतार्थपरतया वा कर्तव्यम् । तत्र शक्तिवृत्तिप्रतीतार्थपरतयैव सर्वस्मिन् वेदे व्याख्यानं कर्तव्यमिति वैदिकानां सिद्धान्तः । यतः 'कश्छन्दसां योगमावेद धीर' इति श्रुतिः कः पुरुषश्छन्दसां वेदानां योगं योजनं इदं युक्तमिदमयुक्तमिति आसमन्ताद्वेद जानातीत्यर्थप्रतिपादिका, अथ च 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति श्रुतिः, अथ च 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्, प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यं प्रचक्षत'इति ब्रह्माण्डपुराणम्, अथ च 'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्, आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि'रिति गौतमस्मृतिश्च वेदे तर्ककरणं निषेधति । अत एवालङ्कारशास्त्रमपि प्रभुसम्मितो मित्रसम्मितः कान्तासम्मितश्चेति शब्दत्रयं विभज्य, प्रभुसम्मितः शब्दो वेदः, मित्रसम्मितः शब्दः पुराणादिः, कान्तासम्मितः शब्दः काव्यादिरिति कथयत्, प्रभुसम्मितः शब्दो वेद इति वदति । तथा च यथा प्रभुवचने न कश्चित्तर्कं करोत्येवमेव वेदेऽपि न कर्तव्यो दण्डभीत्या । तत्र लौकिके ताडनादिर्दण्डः, वेदे तु पापोत्पत्तिर्दण्डः, अत एव 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'त्यन्यथार्थकरणे दोषरूपं दण्डमाहेति ज्ञेयम् । एवं च तर्कमुखनिरीक्षकत्वं न वेदे, वेदमुखनिरीक्षकत्वं तु तर्केऽस्त्येव । अत एव 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर' इति स्मृतिवचनं, वेदशास्त्राविरोधिनेति विशेषणेन तर्कस्य वेदमुखनिरीक्षकत्वमुक्तवती । एवं च सति वेदार्थो न स्वोत्प्रेक्षिततर्केण निर्णेतव्यः, किन्तु शक्तिवृत्त्या वेदो यथा वदति, तथैव प्रमाणत्वेन मन्तव्य इति । विशेषतस्तु ब्रह्मप्रतिपादको वेदः । ब्रह्मणो 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रिति श्रुतेः सर्वशक्तिमत्त्वाद्विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वात्सर्वभवनसमर्थत्वाच्च । न च तर्हि पूर्वोत्तरमीमांसावैयर्थ्यापत्तिरिति वाच्यम् । वेदविरुद्धशास्त्रश्रवणजनितसंस्कारसहकृतया मत्या वेदे सन्देहे जाते तन्निवारणोपयोगित्वेन तयोः सार्थक्यात् । ननु तर्हि 'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' 'मृदब्रवी'दित्यत्रापि प्रतीतार्थपरतास्त्विति चेत् । न । अत्र सन्देहे नारायणांशावताररूपैः श्रीमद्वेदव्यासचरणैः सूत्रितम्, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्', 'अभिमानिव्यपदेशस्त्वि'ति । तथा च सोऽर्थो नास्मदादितर्कपरिकल्पित इति न तत्र शक्तिवृत्तिप्रतीतार्थता कल्पयितुं शक्यते । एवं च, यथा तत्र सन्देहे सूत्रितम्, न तथा श्रीमद्व्यासचरणैः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'त्यादिषु श्रुतिषु प्रतीतार्थेतरार्थबोधनाय किञ्चित्सूत्रं विरचितम् । तथा च, यत्र व्याससूत्रं प्रमाणीभूतं तत्रैवान्यथार्थकल्पनम्, न त्वर्वाचीनलौकिकतर्कविरोधमापाद्य वेदे सर्वत्रान्यथार्थकल्पनमस्मदादीनामपि युक्तम् । व्यासचरणानां भगवत्त्वादस्मदादीनां तु जीवत्वेनालौकिकपदार्थानभिज्ञत्वात् । अत एव, 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यती'ति स्मृतिरप्यल्पं श्रुतं

वेदश्रवणं यस्य तस्मात्कुतर्काभ्यासिनः सकाशाद्वेदस्य स्वस्मिन्नन्यार्थकल्पनरूपचालनाद्भयं भवतीत्यर्थप्रकाशिकास्मदादिकृततर्कनिषेधं करोति वेदार्थनिर्णये । तथा च, न वेदे कुत्रापि युक्त्यपेक्षा, किन्तु यथा वदति शक्तिवृत्त्या, तथैव मन्तव्यः सर्वोपि वेद इति निश्चेतव्यम् । व्यासादिसूत्रोक्तयुक्तिस्तु वेदतुल्यैवेत्युक्तमेव । यस्माच्च ब्रह्मसूत्रोक्ततर्कानिषेधोऽन्यकृततर्कनिषेध एवोदाहृतश्रुतिपुराणस्मृतिषु, अत एव 'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्, ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चित'मित्यनेन भगवता गीतायां युक्त्यपेक्षिणमर्जुनं प्रति हेतुमद्ब्रह्मसूत्रविनिश्चितमेव ज्ञानमुक्तम्, न त्वन्यमुनिप्रणीतन्यायादिसूत्रविनिश्चितज्ञानमिति । अन्यमुनिप्रणीतसूत्रमूलानां न्यायादिदर्शनानां तु 'कणादो गौतमः शक्तिरुपमन्युश्च जैमिनिः । ऋषयस्तामसा एते शास्त्रमेषां विमोहन'मित्यादिहयशीर्षपञ्चरात्राद्युक्तेर्व्यामोहकत्वात् । अत एव, भगवत्प्रमाणीकृतब्रह्मसूत्रेषु न्यायवैशेषिकवेदविरुद्धसांख्ययोगादीनां खण्डनमुपलभ्यते । जैमिनिप्रणीतमीमांसायां तु कस्यचित्कस्यचिदर्थस्य वेदविरुद्धस्योपनिबन्धात् 'कणादो गौतमः शक्ति'रिति वचने गणना जैमिनेः, न तु सर्वथा तच्छास्त्रस्याप्रमाणत्वाभिप्रायेण, विचार्यमाणे तु जैमिनिना व्यामोहनार्थमेवोक्तं तथा, न तु तामसत्वं जैमिनेः । मोहनस्य भगवच्चिकीर्षितत्वात् । अतो न तत्र स्वाभिप्रायः, श्रीमद्व्यासशिष्यत्वेन तद्विरुद्धमतस्य तेन वक्तुमशक्यत्वात् । अस्मिन् पक्षे तु एतावद्विचाराकर्तॄन् प्रत्येव 'कणादो गौतमः शक्ति'रित्यत्र जैमिनेस्तामसत्वेन गणना ज्ञेया । अत एव श्रीमद्वल्लभाचार्यैर्व्यासमताविरुद्धं जैमिनिसूत्रभाष्यं कृतमस्ति । वस्तुतस्तु, 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्' 'एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदां' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहं' 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिश्रीभागवततदनुरुद्धार्थकगीताश्रुतिभिश्चाभिधावृत्त्यैव सर्वोपि वेदो निखिलाधिदैविकरूपे मां प्रतिपादयतीत्युक्तम् । तल्लौकिकैस्तर्कनिष्ठैर्न ज्ञायत इति व्यासचरणै'राकाशस्तल्लिङ्गादभिमानिव्यपदेशादित्या'दिसूत्राणि कृत्वा कृपया तर्केण ते बोधिताः, न तु वेदे शक्तिवृत्तिप्रतिपादितादन्योर्थोऽस्तीत्यभिप्रायेणेति बोद्धव्यम् । एवं च सिद्धं सर्वस्यापि वेदस्य शक्तिवृत्तिप्रतीतार्थपरत्वैव व्याख्यानं कर्तव्यमिति । तथा चात्राप्युपनिषदि शक्तिवृत्तिप्रतीतार्थपरतयैव व्याख्यानमुचिततरमिति दिक् ।

तत्र 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यानन्दवल्ल्यारम्भे ऋक्,

ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥

अत्रेदं विचार्यते, 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' 'शब्दब्रह्म परं च यत्' 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' 'तदेतदक्षरं ब्रह्म स(र्व) कारणकारण'मित्यादिगीतातेजबिन्दूपनिषच्छ्रीभागवतादिवचनैः, अथ च 'ब्रह्मणा विपश्चिते' त्यत्रत्यपरविवरणतयोच्यमानेन ब्रह्मणेति पदेन परब्रह्म बोधयन्त्याऽन्यत्र श्रुत्या च क्रमेण प्रकृतिः, प्रणवः,

वेदः, अक्षरब्रह्म, परब्रह्म चेति पञ्चार्था ब्रह्मशब्देनोच्यन्ते। तत्राग्रे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यनेन ब्रह्मस्वरूपे व्याख्यायमानज्ञानरूपत्वस्य तिरोहितज्ञानानन्दतया जडरूपत्वेन केवलसद्रूपयोः प्रकृतिवेदयोरसम्भवेन, न जडरूपायाः प्रकृतेः, शब्दरूपस्य प्रणवस्य वेदस्य वा वाचकत्वमत्रत्यब्रह्मशब्दस्य । न चाधिदैविकप्रकृतेराधिदैविकप्रणवमूर्तिमद्वेदयोर्भगवद्रूपत्वेन सत्यज्ञानानन्दरूपत्वसम्भवेनाधिदैविकप्रकृत्याधिदैविकप्रणववेदान्यतमवाचकत्वमेवास्त्विति वाच्यम्। आधिदैविकप्रकृत्याधिदैविकप्रणववेदयोः प्रकृतित्वप्रणवत्ववेदत्वमात्रपुरस्कृतस्वरूपज्ञानेन ब्रह्मप्राप्तेः क्वापि वेदादावश्रुतेर्ब्रह्मशब्दस्याधिदैविकप्रकृतिप्रणववेदवाचकत्वस्याप्यत्राभावात् । न च मास्तु प्रकृतित्वेन प्रकृतिज्ञानं, प्रणवत्वेन प्रणवज्ञानं, वेदत्वेन च वेदज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकारणं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते'ति श्रुतेः सर्वस्य ब्रह्मत्वेनोपासना बोधिता, उपासनायाश्च चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वात् सर्वमध्ये ब्रह्मत्वेन प्रकृतिप्रणववेदान्यतमस्यापि सत्त्वात्, ब्रह्मत्वेन प्रकृतिप्रणववेदान्यतमज्ञानं ब्रह्मप्राप्तौ कारणमस्त्येवेति प्रकृतिप्रणववेदान्यतमवाचकत्वमेवास्त्वत्रत्यब्रह्मशब्दस्येति वाच्यम्। प्रकृतिप्रणववेदानां ब्रह्मत्वप्रकारकज्ञानेन श्रुतौ कुत्रापि ब्रह्मप्राप्तिकारणत्वस्यानुक्तत्वात् । न चानयैव श्रुत्या कारणत्वमुच्यते, ब्रह्मशब्दस्य प्रकृतिप्रणववेदवाचकत्वादिति वाच्यम्। एवं ब्रह्मत्वप्रकारेण प्रकृतिप्रणववेदान्यतमज्ञानस्य कारणत्वेपि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती'ति श्रुत्यन्तरेण ब्रह्मज्ञानोत्तरसामयिकभगवद्वरणजनितभक्त्यभावे केवलब्रह्मज्ञानमात्रवतो जीवात्मनो ब्रह्मरूपे आत्मनि लय उच्यते। तत्र त्वन्मते ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मत्वधर्मपुरस्कारेण प्रकृतिप्रणववेदान्यतमपरत्वात् प्रकृतिप्रणववेदेष्वेव लयः प्राप्तः। स न सम्भवति । प्रकृतिप्रणववेदानां जीवात्मविजातीयत्वात्। न हि विजातीये विजातीयस्य लयः कस्याप्यनुभवसिद्धः। न च ब्रह्मत्वेनैव साजात्यमिति वाच्यम्। तथापि जीवत्वप्रकृतित्वादिधर्मैः परस्परं वैजात्यात् 'सर्वं ब्रह्मे'ति ज्ञाने हि सर्वमध्ये अस्य जीवत्वप्रकृतित्वादीनां ब्रह्मत्वस्यैव जातित्वात् जीवस्याक्षरब्रह्मसजातीयत्वेनाक्षरब्रह्मणि लयस्य सामञ्जस्यात्। न च 'प्रकृतिः पुरुषश्चैव लीयेते परमात्मनी'त्यनेन विजातीयस्यापि प्रकृतित्वस्य परमात्मनि लयप्रतिपादनं विरुध्येत। परमात्मनः सर्वमूलीभूतत्वात् सर्वसजातीयत्वात् प्रकृते प्रकृतित्वजीवात्मत्वयोरेव वैजात्यात्। परब्रह्मणा भोगेच्छया परस्परविजातीयपदार्थानामेव सम्भावितत्वात् । अत एव पुराणे सर्वेषां घटपटादीनां महाप्रलये परमात्मनि लयप्रतिपादनं सङ्गततरम्। तस्मादपि न प्रकृतिप्रणववेदान्यतमवाचकत्वं ब्रह्मशब्दस्य । न च प्रकृतिजन्यशरीरादिस्वरूपज्ञानस्य वैराग्यद्वारा प्रणवस्याप्युपासनादिद्वारा वेदबोधितनिष्कामकर्मश्रवणादिज्ञानस्य च निष्कामकर्मश्रवणाद्यनुष्ठानद्वारा च ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वं सर्ववादिसिद्धम्, तेन 'ब्रह्मवि'दित्यत्र ब्रह्मशब्दः प्रकृतिवाचकत्वपक्षे स्वजनितशरीरादिपरः, प्रणववाचकत्वे तदुपासनापरः, वेदवाचकत्वपक्षे वेदबोधितनिष्कामकर्मश्रवणादिरूपसाधनपरः, तथा च प्रकृतिजन्यशरीरादिस्वरूपवित् प्रणवो-

पासनावित् वेदबोधितनिष्कामकर्मश्रवणादिसाधनविच्च, वैराग्यद्वारा प्रणवोपासनाद्वारा साधनानुष्ठानद्वारा च, ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थ इति लाक्षणिकार्थ एवास्तु ब्रह्मशब्दस्येति वाच्यम् । शरीराणा चतुरशीतिलक्षसंख्याकत्वेन वेदबोधितप्रणवोपासनाया वेदबोधितसाधनानां चापि परिमितत्वेनानित्यत्वेन च ब्रह्मस्वरूपव्याख्यानोक्तान्तराहित्यरूपस्य वाक्यानन्त्यरूपस्य वानन्तत्वस्य प्रकृतिजन्यशरीरेषु प्रणवे वेदबोधितसाधनेषु चासम्भवेन त्वदुक्तस्यार्थस्याप्यसामञ्जस्यात् । तस्माल्लाक्षणिकार्थपरत्वेनापि न प्रकृतिप्रणववेदान्यतमवाचकत्वं ब्रह्मशब्दस्य । अतः परमवशिष्यतेऽक्षरब्रह्मपरब्रह्मान्यतरवाचकत्वम् । तत्राक्षरब्रह्मवाचकत्वमेव युज्यते 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्रत्यब्रह्मशब्दस्य । परब्रह्मणोऽग्रे फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । एतस्य ब्रह्मणः साधनीभूतज्ञानशेषत्वात् । न च साधनशेषब्रह्मफलरूपब्रह्मणोरैक्यमेवेति वाच्यम् । तदोभयोरक्षरब्रह्मत्वे परब्रह्मत्वे वा श्रुत्या तच्छब्देनैवोक्तं स्यात्, न तु सन्दिग्धार्थप्रतिपादकपरशब्देनेति त्वदुक्तेरनवकाशात् । तस्मात्साधनशेषब्रह्मणः परं भिन्नमुत्कृष्टमग्रे स्थितं वेत्येवार्थः परशब्दस्येति । 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्रत्यब्रह्मशब्दस्याक्षरतैवेति निष्पन्नम् । एवं च ब्रह्मवित्केवलाक्षरब्रह्मवित्, न तु परब्रह्मविद्, अग्रे परमित्युक्तफलरूपस्य ब्रह्मणो वक्तव्यत्वात्परमेतद्ब्रह्मणाप्युत्कृष्टमग्रे स्थितमेतद्भिन्नं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थो ब्रह्मविदाप्नोतीत्यस्य सिद्धः, अग्रे स्थितमिति पक्षे भिन्नत्वार्थपक्षे च फलत्वादेवोत्कृष्टत्वम्, उत्कृष्टत्वार्थपक्षे तु श्रुत्यैवोत्कृष्टत्वं बोध्यत इति ज्ञेयम् ।

यत्तु यस्य ज्ञानं तस्यैव प्राप्तिरिति लोकदृष्टम्, न त्वन्यज्ञानेनान्यस्य प्राप्तिः, अन्यथा घटज्ञानेन पटस्यापि प्राप्तिः स्यात्, अतो ब्रह्मवित्परशब्दोक्तं निरतिशयं तदेव ब्रह्म प्राप्नोतीत्येवार्थ उचित इति मायावादिन आचार्या वदन्ति ।

तत्र वदामः । यद्यन्यज्ञानेन नान्यस्य प्राप्तिरिति नियमः स्यात्, तदा तैरुक्तं घटेत । न त्वयं नियमः । यतः सगुणब्रह्मज्ञानेन निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरिति तेषामपि सिद्धान्तः । न च ब्रह्मत्वेनैकैव ब्रह्मव्यक्तिरिति नान्यज्ञानेनान्यस्य प्राप्तिः, किन्तु तज्ज्ञानेन तस्यैव प्राप्तिरिति वाच्यम् । एवं चाक्षरब्रह्मणोरपि ब्रह्मत्वेनाभेदात्तज्ज्ञानेन तस्यैव प्राप्तेरस्मन्मतस्यापि निष्प्रत्यूहत्वात् । न चोभयोरपि ब्रह्मत्वेनैक्ये परापरभावव्याहतिरिति वाच्यम् । यथा तन्मते ब्रह्मत्वेनैक्येऽपि सगुणनिर्गुणत्वभेदेन परापरभावः, यथा वाग्नित्वेनाग्निविस्फुलिङ्गयोरैक्येऽपि स्वल्पप्रकाशबृहत्प्रकाशरूपधर्मभेदेन परापरभावः, तथा गणितानन्दत्वरूपधर्मभेदेन 'धर्मे देहे गृहे रश्मा'विति विश्वकोषोक्तार्थत्रयवाचक 'तद्धाम परं मम', 'तदेतदक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं, विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मन' इति गीताश्रीभागवतवचनस्थधामशब्दोक्तदेहत्वगृहत्वरश्मित्वप्रमशब्दोक्तसाक्षात्पुरुषशब्दोक्तगृहित्वदेहित्वरश्मित्वधर्मिभेदेन चात्रापि परापरभावव्याहतेरभावात् । अक्षरब्रह्मणो गणितानन्दत्वं तु 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यस्य व्याख्याने स्फुटीकरिष्यते । तस्मादस्मदुक्त एव व्याख्यानं साधीय इति दिक् ।

अथ ब्रह्मविदाप्नोतीत्यत्र ब्रह्मवित् परं आप्नोतीति पदचतुष्टयमुक्तम्, तस्य स्वकपो-

लकल्पितार्थकरणव्यावृत्त्यर्थं ऋगेव तद्व्याचष्टे तदेषाभ्युक्तेति । तच्छब्देन ब्रह्मविदाप्नोति पदचतुष्टयम् । अभि अभिमुखीकृत्यैषा ब्रह्मविदाप्नोतीति ऋक् उक्ता व्याख्याता मया, श्रुत्या वा, ब्रह्मानुभवकर्तृभिर्वा, भगवता वेति शेषः, इति श्रुतिरेवाह ब्रह्मस्वरूपमनुभवैकवेद्यं, नान्यमानगम्यमिति ज्ञापयितुम् । एतेनाग्रिम ऋगुक्तोर्थो यथाश्रुत एव कर्तव्यः, न तु स्वकपोलकल्पितानुपपत्त्युद्भावनेन लक्षणावृत्त्या मायावाद्याचार्यवदन्यथा कर्तव्य इति बोध्यते । अन्यथा यदि लाक्षणिक एवात्रार्थोभिमेतः स्यात्तदा श्रुत्यैव तादृशार्थवाचकशब्दैरेव व्याख्यातः स्यात्, तस्मात् शक्तिवृत्तिसिद्ध एवात्रार्थ इति ज्ञेयम् । किञ्च, व्याख्यानेपि लाक्षणिकशब्दैरेव व्याख्याने व्याख्यानस्याकृतप्रायत्वं च । अर्थसन्देहस्य तदवस्थत्वात् । न च 'परोक्षप्रिया ह वै देवाः, परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय'मिति श्रुतिगीताश्रीभागवतवचनाभ्यां परोक्षवादोस्तीति लक्षणावृत्त्याश्रयणमेव कर्तव्यमिति वाच्यम् । यदि परोक्षवाद एवात्राभिमेतः स्यात्तदा ब्रह्मविदाप्नोतीत्येवोक्तं स्यात्, न तु तदेषाभ्युक्तेति व्याख्यानमप्युक्तं स्यात्, यदि च पूर्वोक्तवचनाभ्यां व्याख्याने तद्व्याख्याने तद्व्याख्यानेपि परोक्षवादस्तदाभिप्रेतार्थस्यस्याभावे सर्वोपि वेदो व्यर्थः स्याद् ,अभिप्राये ज्ञानाभावात् । तस्मान्न व्याख्याने परोक्षवादोस्तीति मन्तव्यम् । किञ्च, सोयं परोक्षवादो न सर्वत्र वेदे, किन्तु स्थलविशेष एव, कर्मोपासनाज्ञानकाण्डेषु । तत्र ' फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परं, श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचन'मित्येकादशस्कन्धीयभगवद्वचनात् , कर्मकाण्डे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र स्वर्गादिफलश्रुतिः, उपासनाकाण्डे 'य एता महासंहिता वेद सन्धीयते प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेने'त्यादिफलश्रुतिः, ज्ञानकाण्डे तु 'अन्नवानन्नादो भवती'त्यादिफलश्रुतिः । परोक्षवादो जीवान् यथाकथञ्चिद्वेदे प्रवर्तयितुं, यतो 'वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया' इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वचनात्सर्वस्यापि वेदस्य ब्रह्मात्मविषयत्वं भगवतोक्तम् , न तु स्वर्गादिविषयत्वं, तथाप्येतदपि फलं भवति, केवलस्वर्गादिफलाकांक्षायां यागादिकर्तॄणां भगवतः सत्यवाक्त्वात् । परन्त्वत्र तात्पर्याभावो भगवतः, यथा ' त्वमिदं कटुभेषजं पिब, तुभ्यं सितोपलं दास्यामि' इत्युक्ते बालो भेषजं पिबति तल्लोभात्तदनन्तरं सितोपलमपि दीयते, परन्तु न तत्र भिषजस्तात्पर्यं एवमपि ज्ञेयम् । एवञ्च तात्पर्यविषयीभूतगोपनप्रयोजनकं तात्पर्यविषयीभूतकथनं परोक्षवाद इति बोध्यम् । स च परोक्षवादो भगवद्वचनाविरुद्धसिद्धान्तप्रकटनेन भगवता वा ज्ञापितो ज्ञायते । एवं च न सर्वत्र वेदे परोक्षवादः, अत एव यत्र ज्ञापकप्रमाणाभावः, तत्र यथाश्रुत एव वेदार्थ उक्तोस्मदाचार्यवर्यैरिति कृतं पल्लवितेन ।

अथ यादृशब्रह्मज्ञानेन परमाप्तिरभिमेता परस्य रमणार्थं तादृशं ब्रह्म श्रुतिर्व्याचष्टे सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति । सत्यं कालत्रयाबाधितं, ज्ञानं चित्स्वरूपं, अनन्तं अपरिच्छिन्नं चेत्यर्थः । एतेन 'स एतावानास' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिभि'र्यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य' 'वनानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' 'अणोरणीयान्महतो महीया' नित्यादि-

वचनैश्च सत्यासत्यस्वरूपस्य जडाजडस्वरूपस्य परिछिन्नापरिछिन्नस्वरूपस्य सर्वस्यैव ब्रह्मत्वेपि कालत्रयाबाधितत्वरूपेण चित्स्वरूपत्वेनापरिछिन्नरूपेणैव ब्रह्मणो ज्ञानं परमाप्तिसाधनं, न तु कालत्रयबाधितत्वरूपेण चित्स्वरूपत्वरूपेण परिछिन्नत्वरूपेण च । यतः 'स वै न रेमे' इति श्रुतेः सर्वस्यापि रमणान्तर्गतत्वात् तादृग्ज्ञानस्यैव परमाप्त्युपयोगत्वेन सिद्धत्वादिति भावः । न च यत्र यत्र श्रुतौ सत्यज्ञानपदे उक्ते तत्रानन्दपदमपि प्रयुक्तमित्यत्रापि कुतो नोक्तमिति वाच्यम् । अत्र परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगः फलत्वेनोच्यते । तत्र योग्यतासम्पादकत्वेन चाक्षरब्रह्मज्ञानमुक्तं, तत्राक्षरब्रह्मण आनन्दरूपत्वेपि गणितानन्दत्वेन परिच्छिन्नानन्दत्वादगणितानन्दपरब्रह्मफलाधिकारीहास्य मा करोतु, अथ च यत्र परिच्छिन्नानन्दमक्षरब्रह्मैव फलत्वेनोक्तं श्रुत्याधिकारिविशेषं प्रति, तत्रानन्दपदं प्रयुज्यते अक्षरस्य फलत्वबोधनाय, अत्र त्वपरिमितानन्दरूपमेव परं ब्रह्म फलत्वेनोच्यत इति परप्राप्तियोग्यतासम्पादकब्रह्मज्ञानविषयीभूतस्याक्षरब्रह्मणः फलत्वाभावादानन्दपदस्यानुक्तत्वात् । न चाक्षरब्रह्मणोत्र फलत्वं मास्तु, साधनत्वमेवास्तु, परब्रह्मणस्तु फलत्वादत्रानन्दपदं विशेषणत्वेन कुतो न प्रयुक्तं फलत्वबोधनायेति वाच्यम् । सच्चिदानन्दात्मकाक्षरज्ञानफलत्वे श्रुत्या परस्योक्ते फलत्वबोधकानन्दपदप्रयोगस्य वैयर्थ्यात् । न च दुःखाभावः सुखं च पुरुषार्थौ, तत्र सुखं मुख्यः पुरुषार्थः, दुःखाभावस्तु गौणः पुरुषार्थः, सुखस्यैव सर्वाकांक्षाविषयत्वात्, दुःखाभावस्य तु सर्वथा सुखप्राप्तिनिश्चयाय निरन्तराप्रतिबद्धसुखानुभवार्थं वाकांक्षणीयत्वात्, एवञ्च सुखे मुख्यत्वं, दुःखाभावे गौणत्वं च स्पष्टमेव, तथा चानन्दपदाप्रयोगे परस्य दुःखाभावरूपगौणपुरुषार्थता कदाचिदायातीति वाच्यम् । सच्चिदानन्दमयाक्षरब्रह्मज्ञानफलत्वे श्रुत्या परस्य बोधिते दुःखाभावरूपगौणपुरुषार्थताया अनागमनात् । यतः सच्चिदानन्दविषयकज्ञानस्योत्कृष्टसच्चिदानन्द एव फलं भवितुमर्हति । साधनतः फले सर्वत्रोत्कृष्टत्वस्य दृश्यमानत्वात्, तच्चोत्कृष्टत्वं तु निरवधिसच्चिदानन्दत्वमेव बोध्यम् । दुःखाभावस्य तु सुखापेक्षाया न्यूनत्वान्नानन्दफलत्वं वक्तुं शक्यमिति न किञ्चिदेतत् ।

अथ यादृशी वित् परमाप्तिसाधनं तादृशीं विदमाह यो वेद निहितं गुहायामिति । एतादृशं ब्रह्म यः कश्चन भाग्यवान् गुहायां हृदयाकाशे निहितं स्थापितं मया (मायां?) तिरस्कारिणीं दूरीकृत्याविर्भावितमिति यावत्, वेद अनुभवेत्, न तु शास्त्रीयज्ञानमात्रवानित्यर्थः । अत्र निहितपदस्याविर्भावितार्थकत्वादन्यकर्तृकत्वेनाक्षरब्रह्मण आविर्भावे स्वातन्त्र्याभाव आयातीत्यतोपि पराङ्न्यूनत्वं बोध्यम् । अन्यथाक्षरब्रह्मणो व्यापकत्वात् तत्र स्थितत्वेन स्थितमित्येव वदेत्, न त्वाविर्भावितार्थकनिहितपदम्, तस्मादस्वातन्त्र्यबोधनायैव निहितपदमिति ज्ञेयम् । न च शास्त्रीयसाधनैराविर्भावितमित्यर्थे इति क पराङ्न्यूनत्वमक्षरब्रह्मणो निहितपदेनायातीति वाच्यम् । एतादृशविवक्षायामर्थाधिक्यस्याप्रतीयमानत्वात्, अस्मत्कृतविवक्षायां तु पराङ्न्यूनत्वमक्षरब्रह्मणि बोध्यते इत्यर्थाधिक्यस्य प्रतीयमानत्वमित्यस्मदुक्त एवार्थः साधीयान् ।

अथ यादृशी परप्राप्तिरभिप्रेता तादृशीं वदन्त्याप्तिपदार्थमाचष्टे **परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति** । साधनवाक्ये कर्मणः पूर्वमेव क्रियापदमुक्तमिति व्याख्यानेपि कर्मणः पूर्वमेव क्रियापदं व्याख्यायते श्रुत्या, स तादृशो ब्रह्मवित्, **परमे व्योमन्** व्यापिवैकुण्ठ इति यावत्, तत्र **सर्वान् कामान**शेषानभिलषितानर्थान**श्नुते** भुंक्ते इत्यर्थः । अत्र लयस्वरूपप्राप्तिमात्रं नाभिमेतं श्रुतेः । तथा सति, सोऽश्नुते सायुज्यमित्येवोक्तं स्यात्, न तु सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यनेन सर्वकामभोगरूपा विलक्षणा प्राप्तिरुक्ता स्यात् । तत्र सर्वकामभोगस्तु द्वितीयेन सह भवति । अत्र तु ब्रह्मणा सहेत्यनन्तरमेव वक्तव्यत्वात् द्वितीयं ब्रह्मैवेतीयं सर्वकामभोगरूपा प्राप्तिर्भेदघटिता । तत्र मुक्तिदशायां भेदस्तु भक्तिमार्ग एव, न ज्ञानमार्गे, ' भक्तिर्भेदकरी नृणा 'मिति श्रीभागवतवचनाद्भक्तिमार्ग एवानया श्रुत्या प्रतिपादितः । यस्माच्चेदं भक्तिमार्गीयमेव फलं, तस्मात् ब्रह्मणा सहेत्यत्र ' सह युक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेणाप्रधाने तृतीया प्रयुक्ता, भोगे परब्रह्मणोऽप्रधानताबोधनाय । तच्चाप्राधान्यं परब्रह्मणो भक्तिमार्ग एव, न ज्ञानमार्गे, अत एव 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः । नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परं । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे । मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति श्रीभागवते नवमस्कन्धे अम्बरीषकथायां दुर्वाससं प्रति भगवता स्वस्य भक्ताधीनत्वमुक्तम्, ज्ञानमार्गे 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' मित्यनेन ज्ञानिनः स्वात्मत्वमात्रमुक्तम्, न तु तदधीनत्वम्, तस्मादियमुपनिषद्भक्तिमार्गीयसाधनभक्तिमार्गीयफलभक्तिमार्गीयब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकत्वान्मुख्यतया भक्तिमार्गप्रतिपादिकैव, न ज्ञानमार्गप्रतिपादिका । ज्ञानमार्गीयस्वरूपसाधनप्रतिपादनं तु भक्तिमार्गीयफलप्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकमात्रत्वात्तच्छेषभूतमिति न मुख्यं, किं तु गौणमेवेति ज्ञेयम् । ननु किं साधनशेषब्रह्मणा भुंक्ते इत्याशङ्कायां परशब्दार्थं विवृण्वाना समाधत्ते **ब्रह्मणा विपश्चितेति** । विपश्चितातिपण्डितेनेत्यर्थः । अत्र पाण्डित्यं सर्वकामभोगस्य पूर्वमुक्तत्वात्तद्विषयकपाण्डित्यमेव मुख्यतया विवक्षितम् । सन्निहितकामभोगरूपविषयकत्वस्य त्यागे कारणाभावात् । एवं च विपश्चिच्छब्दोपलक्षितः सकलो धर्मो भोगोपलक्षितो देहादिश्च परब्रह्मणि भोग । कर्तरि जीवे च सिध्यति । शरीरस्यैव भोगायतनत्वादिति परिभावनीयम् । अत एव मायावाद्याचार्यकृतहार्दाकाशत्वेन परमे व्योमन्नित्यस्य व्याख्यानमपि न समीचीनम्, एतादृशपरब्रह्मणा सह तत्र सर्वकामभोगस्यासम्भवात् । परब्रह्मणः सर्वशक्तिमत्त्वेपि सर्वकामभोगस्य बहिर्लोकाधारसापेक्षत्वेनैतत्स्वेच्छया रचितत्वाच्च । अन्यथा वैकुण्ठादिलोककरणवैयर्थ्यापत्तिः । एवं च ' प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी । तस्याः पारे परे व्योम्नि त्रिपाद्भूतं सनातनमि'ति पाद्मोत्तरखण्डीयवचनोक्तविरजानदीपारस्थपरमव्योमशब्द-

वाच्यस्य ' प्राकृते प्रलये प्राप्तेऽव्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा, शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे, ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसंज्ञकः, निर्गुणोनाद्यनन्तश्च वर्तते केवलेऽक्षरे ' इत्यनेनाक्षरब्रह्मान्तर्गतत्वेनाक्षरब्रह्मानन्दरूपत्वेन च बृहद्वामनपुराणोक्तस्यापि वैकुण्ठाख्यस्य पूर्णपुरुषोत्तमाधारलोकस्यैव ग्रहणम् । अत एवात्रापि आनन्दमयनिरूपणे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे' त्यत्राप्यानन्दमयस्याधारत्वेन निरूपितमक्षरब्रह्मेति सर्वं चतुरस्रम् । तथा च सकलविपश्चित्त्वादिधर्मवत् शरीरवत् फलरूपं ब्रह्म परशब्दार्थः । यद्वा, ब्रह्मवित् सर्वान् कामान् सह एकवारमेव, न तु क्रमेण । अलौकिकसामर्थ्यस्य भगवता दत्तत्वात् । ब्रह्मणा विपश्चिता साधकतमत्वात् करणभूतेनाश्नुते भुंक्ते इत्यर्थः । एवमपि ' रामेण बाणेन हतो वाली'त्यत्र, यथा बाणस्याप्राधान्यं रामस्यैव प्राधान्यं, बाणक्षेपणस्य तदधीनत्वात् , तथात्रापि परब्रह्मणः करणत्वेनाप्रधानत्वं, भोगकर्तुर्मुक्तस्यैव प्रधानत्वं ज्ञेयम् । न च बाणस्याचेतनत्वेन तत्क्षेपणस्य च रामाधीनत्वेन प्राधान्यमुचिततरं, प्रकृते तु भोगकर्तुर्जीवस्य ' सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशास्ती'ति श्रुतेर्ब्रह्माधीनत्वात् कथं प्राधान्यमिति वाच्यम् । भोगकर्तृत्वं भक्तिमार्गे एव, न तु ज्ञानमार्गे । एवञ्च ' अहं भक्तपराधीन ' इत्यादिना स्वस्मिन् भक्ताधीनत्वस्य परब्रह्मणैव प्रतिपादितत्वेनात्र यौष्पाकीणयुक्तीनां दुर्बलत्वात् । यद्वा, सहशब्दाप्रयोगेपि 'विनापि तद्योगं तृतीये'ति तृतीया । यद्वा, सह(स्व)शब्द एव देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बन्ध्यते, सर्वथा फलीभूतस्य परब्रह्मणोप्राधान्यं भोगकर्तुर्जीवस्य प्राधान्यमिति सर्वपक्षेष्वपि भक्तिमार्ग एवानया श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति निश्चेतव्यम् । एतेन साधनशेषब्रह्मणः तव मते निर्धर्मकत्वादस्मन्मते निर्धर्मकसधर्मकत्वेपि गणितानन्दत्वात् परशब्दवाच्यब्रह्मणस्त्वगणितानन्दधर्मकत्वात् परशब्दवाच्यं भिन्नत्वम्, अथ च परमफलरूपत्वाच्चातुर्धवत्त्वादप्युत्कृष्टत्वमग्रे स्थितत्वं च सिद्धम् । ननु 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति श्रुत्या कर्मकरणे ब्रह्मज्ञानं सहायीभूतमुक्तं, न तावताक्षरब्रह्मज्ञानापेक्षया कर्मोत्कृष्टं, साक्षान्मोक्षाजनकत्वात् । तथात्राप्यक्षरब्रह्मणो ज्ञानं सधर्मकब्रह्मणा सह भोगकरणे कारणमस्तु, न तु ततः सधर्मकं ब्रह्मोत्कृष्टमिति वाच्यम् । अत्र हि सर्वकामभोगो ब्रह्मणा सह फलत्वेनोच्यते, स सर्वकामभोगस्तु भेदे सति भवति । स च भेदो ' भक्तिर्भेदकरी नृणा'मिति वाक्यात् भक्तिमार्ग एवेति । एवञ्च, भक्तिमार्गीयस्यैवेदं फलं, न तु ज्ञानमार्गीयस्य, ' ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ' इति श्रुतेस्तं प्रति ब्रह्मत्वस्यैव फलत्वेनोक्तत्वात् । एवञ्च सति 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने', ' मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मित्यादिश्रीभागवतादिवाक्येभ्यो मुक्तेरप्यपेक्षया भक्तियोगस्य तत्फलस्य तद्विषयस्य चोत्कृष्टत्वे सिद्धेऽक्षरब्रह्मज्ञानस्य तद्विषयीभूतस्य चाक्षरब्रह्मण उत्कृष्टत्वाभावस्य वज्रलेपायितत्वात् । ननु यदि ब्रह्मविदः परमाप्तिः, तदा वामदेवादीनामपि सर्वकामभोगरूपा परमाप्तिः

१ आनन्दमये इति पाठो मूले ।

स्यात् , न त्वेवं, यतो 'मुक्तानामपि सिद्धाना'मित्यादिवाक्यैः कस्यचिदेव परमाप्तिरिति श्रीभागवते उक्तमिति चेत् । अत्र वदन्त्यस्मदाचार्याः । अत्राप्रधानतृतीयानिर्देशात् भोगे परब्रह्मणोऽप्राधान्यं, तेन वशीकृतत्वं च लक्ष्यते, तत्तु फलत्वेन प्रधानभूतस्य सर्वप्रभुरूपस्य सर्वमूलीभूतस्य तदैव सम्भवति यदि मध्ये वशीकरणसमर्था भक्तिः स्यात्। अत एव, ' अहं भक्तपराधीनः ' ' वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति श्रीभागवते नवमे (षष्ठे) भगवता स्वस्य भक्ताधीनत्वमुक्तम् । एवञ्च, ' यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुते'र्भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति वचनाच्च, यस्य ब्रह्मविदो विशेषवरणं क्रियते भगवता, तस्य भक्तिरुत्पद्यते, यस्य न विशेषवरणम्, तस्य न भक्तिरिति न सर्वेषां वामदेवादीनां ब्रह्मविदां सर्वकामभोगरूपा परमाप्तिः । अत एव गीतायां ' ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परा'मित्यत्र लभत इत्यनेन लाभत्वेनैव भक्तिरुक्ता, न तु ब्रह्मभावे सति सर्वथैव तत्प्राप्तिरुक्ता, यदि ब्रह्मभावे सति सर्वथैव सर्वस्य भक्तिप्राप्तिः स्यात्, तदा मद्भक्तिं प्राप्नुयात् परामित्येवोक्तं स्यात्, न तु लभत इति । एतेन ब्रह्मवित्त्वं ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगरूपफलप्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकमेव, न तु साक्षात्कारणरूपम्, अक्षरब्रह्मप्राप्तौ तु साक्षात्कारणरूपमिति ज्ञेयम् । न च ब्रह्मज्ञानं मास्तु निरपेक्षं साक्षात्कारणं परप्राप्तौ, भक्तिं व्यापारीकृत्यैव कारणमस्त्विति वाच्यम् । भक्तेर्वरणजन्यत्वेन तज्जन्यत्वाभावाद् व्यापारत्वाभावात् । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको हि व्यापार इति व्यापारलक्षणात् । न च यत्र भक्तिरुत्पद्यते ब्रह्मज्ञानोत्तरं वरणेन, तत्र भक्तिसहकारीकृत्य ब्रह्मज्ञानं कारणमस्तु परप्राप्ताविति वाच्यम् । 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'त्यादिवाक्यैर्ज्ञानादिनिरपेक्षाया भक्तेस्तत्र स्वतन्त्रकारणत्वात् । तस्मादस्मदुक्तमेव द्रढीय इति न किञ्चिदेतत् । अश्नुत इत्यादिधात्वर्थविषयकोऽधिको विचारस्त्वानन्दमयाधिकरणे श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैः प्रपञ्चित इति तत एवावसेयः । अत्र ' ब्रह्मविदाप्नोति पर'मितिसूत्रभूतम् ।' तदेषाभ्युक्ते'त्यारभ्य 'विपश्चिते' त्यन्तं सूक्ष्मव्याख्यानभूतम् ।' तस्माद्वा एतस्मा' दित्यारभ्य सर्वोऽपि ग्रन्थोऽग्रेतनस्तु संक्षिप्तव्याख्यातार्थस्यैव प्रपञ्चभूत इति न प्रस्मर्तव्यम् ।

अथ पररूपं फलं को वेद, कस्मिन्देशेऽस्ति, तत्रास्मत्सविध एवास्तीति पञ्चकोशेषु सर्वान्तरं यत् तत्परमिति दर्शयन्, अथ च 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः, तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ती'त्यनेनाक्षरस्य प्रपञ्चोत्पत्तिलयस्थानत्वोक्त्या प्रपञ्चोपादानकारणत्वमुक्तम् । तदनु ' दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः अक्षरात्परतः पर'इत्यनेन पुरुषोत्तमस्वरूपमुक्त्वा, ' एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'त्यनेन पुरुषोत्तमस्य च कर्तृत्वेन कारणत्वमुक्तम् । एवं चाक्षरब्रह्मणः

सकाशात् परब्रह्मणश्च सकाशात् प्रपञ्चोत्पत्तिरुक्ता मुण्डकादिश्रुताविति इयमपि श्रुतिरक्षरब्रह्मणः परब्रह्मणश्च सकाशात् सृष्टिमाह तस्माद्वा एतस्मादात्मन इत्यादिना।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरपक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपियन्त्यन्ततः। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।

अत्र यद्यपि तच्छब्दस्य पूर्वस्थितप्रधानपरामर्शित्वमुत्सर्गतः सिद्धमिति पूर्वोक्तभोगकर्तृजीवस्यैव शब्दतः प्राधान्यमायाति, न तु समासप्रविष्टतया गौणस्याक्षरब्रह्मणः, न वाप्रधानतृतीयाविभक्तिविशिष्टब्रह्मणा विपश्चितेति वाक्योक्तपरब्रह्मणो वा, तथापि भोगकर्तृत्वेन जीवस्यापाततः शब्दात् प्रतीयमानेपि प्राधान्येऽक्षरब्रह्मणो जीवांशित्वात् परब्रह्मणश्च सर्वमूलीभूतत्वात् सर्वकर्तृत्वात्, 'य आत्मानमन्तरो यमयती'ति श्रुतेर्नियामकत्वाच्च परमार्थतः प्राधान्यमिति पारमार्थिकप्राधान्यमादाय तच्छब्दैतच्छब्दाभ्यामक्षरब्रह्मपरब्रह्मणी परामृश्येते। यथा 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा। फलं तस्य त्रिदोषघ्नं मूलं तस्य विरेचन'मित्यत्र पटोलस्यपत्रनाडीफलानां शब्दत आपाततः प्राधान्ये प्रतीयमानेपि पत्रस्य फलाभावात् फलस्य च मूलाभावात् शब्दतः प्रधानोपादानेऽर्थासम्भवः स्यादायुर्वेदीयश्लोकस्येति शब्दतो गौणस्यापि पटोलस्यार्थिकप्राधान्यमादाय तच्छब्देन पटोल एव परामृश्यते। तथा प्रकृतेपीति बुध्यस्व। एवं च बाधके सति सर्वनाम्नां उत्सर्गसिद्धं शब्दतः प्रधानपरामर्शित्वं त्यक्त्वार्थतः प्रधानपरामर्शित्वमेवाङ्गीक्रियते प्रेक्षावद्भिरिति सिद्धम्। अत्र जीवादाकाशादिसृष्टेः श्रुतिभिरनुक्तत्वमेव बाधकं ज्ञेयम्। तथा चायमर्थः। 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र तस्मात् पूर्वोक्तादक्षरब्रह्मरूपोपादानकारणादथ चैतस्मात् 'ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यनेनाव्यवहितोक्तात् परब्रह्मरूपनिमित्तकारणादात्मनः केवलादेव, न तु मायावादिमतवदज्ञानसहितात्, यद्यज्ञानसाहित्यमभिमतं स्याच्छ्रुतेः, तदा 'तस्माद्वा एतस्मादज्ञानसहितादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्येवोक्तिः स्यात्। एतादृशात्मनः सकाशादाकाश एकशब्दमात्रगुणविशिष्टः पदार्थः सम्भूतः सम्यक् सत्तां प्राप्तः। अन्यस्यात्मातिरिक्तस्याभावाच्चतत्सचांश इति यावत्, सत्तायां सम्यक्त्वं पार-

मार्थिकत्वमेव, न तु मिथ्यावादिमतव्यावहारिकसत्तावत्त्वेनापारमार्थिकत्वम्। न च जगत्सत्ता पारमार्थिकीत्यत्र किं मानमिति वाच्यम् । 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्य'दिति बृहदारण्यकश्रुतिः सृष्टेः पूर्वमात्ममात्रसद्भावमात्मातिरिक्ताभावं चैवकारेण प्रतिपादितवती। तैत्तरीयश्रुतिस्तु 'स द्वितीयमैच्छत्, स एतावानासे'ति वाक्येन ब्रह्मण एव केवलस्य जगद्रूपेणाविर्भावमुक्तवती। एवं चाज्ञानादीनां द्वितीयानामभावात्, ब्रह्मण एव केवलस्य जगदुपादानत्वात्, ब्रह्मणश्च सच्चिदानन्दरूपत्वाचदेव ब्रह्म तिरोहितचिदानन्दांशमात्रमस्ति, मात्रप्रत्ययवेद्यत्वाज्जडरूपेण प्रकटं, तदेव च ब्रह्म तिरोहितानन्दमात्रांशमस्ति जानातीत्येतावत्प्रत्ययवेद्यत्वाच्चिद्रूपेण प्रकटं, तदेव च ब्रह्म प्रकटसच्चिदानन्दांशं तथैवोपनिषदुपबृंहणरूपपुराणेतिहासवेद्यत्वादन्तर्यामिरूपेण च प्रकटं, तत्र 'स वै न रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छ'दित्यनेन रमणार्थमेव सृष्टेरुक्तत्वात् सच्चिदानन्दौचित्यानन्दस्तिरोभूतो ज्ञेयः। आनन्दरूपेऽन्तर्यामिणि तु त्रितयमपि प्रकटमेव, अन्यथा तारतम्याभावे सर्वत्र सच्चिदानन्दरूपब्रह्मत्वे समत्वे क्रीडायाः स्वरूपनिर्वाहो न स्यात्। क्रीडाया उच्चनीचभाव एवोपपत्तेः। तस्माज्जगत्सत्तापारमार्थिक्येवेति बृहदारण्यकश्रुत्या तैत्तरीयश्रुत्या च स्पष्टमेव प्रतिपाद्यत इति, श्रुतेरेव मानत्वात्।

नन्वेकमेव ब्रह्म नानारूपं जातम्, एकस्य च नानात्वं न पारमार्थिकम्, किन्तु व्यावहारिकमेव। अतो मिथ्याभूतमेव जगदिति शङ्करमतमेवेदमिति चेत्?

अत्र ब्रूमः। यथा ब्रह्मणि सर्वे धर्मास्तथा नानात्वव्यावहारिकत्वादिकमपि तद्धर्मरूपमेव। एवं च यदा यत्र यद्धर्माविर्भावेच्छा, तदा तत्र तद्धर्मप्राकट्यं क्रियते, परब्रह्मणो लीलाप्रवृत्त्येतिशङ्करमतसिद्धमिथ्यारूपव्यावहारिकत्वविशिष्टनानात्वाभावोऽस्मन्मत इति क्व तन्मतमिदमिति निपुणतरमाकलयेति दिक्।

अथ प्रकृतमनुसरामः। पारमार्थिकसत्तावदाकाशात् स्वासाधारणत्वशब्दगुणविशिष्टः शब्दगुणविशिष्टश्च वायुः सम्भूतः, तदनु वायोः स्पर्शशब्दरूपगुणद्वयविशिष्टः स्वासाधारणरूपगुणविशिष्टश्चाग्निः सम्भूतः, तदन्वग्नेः शब्दस्पर्शरूपगुणत्रयविशिष्टाः स्वासाधारणरसगुणविशिष्टाश्चापः सम्भूताः, तदन्वद्भ्यः शब्दस्पर्शरूपरसगुणविशिष्टा स्वासाधारणगन्धगुणविशिष्टा पृथिवी सम्भूता, तदनु पृथिव्या ओषधयो व्रीह्यादयश्च सम्भूताः, तदन्वोषधीभ्योऽन्नं भक्ष्यद्रव्यं तन्दुलादि सम्भूतम्, तदन्वन्नात् 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इति वक्ष्यमाणत्वाद्रसरूपतामापन्नात् पुरुषो विराड्देहः सम्भूतः, पारमार्थिकसत्तां प्राप्तः। अत्रात्मरूपपुरुषस्यान्नादुत्पत्तेरसम्भवादत्रापि (अन्नापि) आद्य वा पुरुषो विद्यते यस्मिन् स पुरुष इति व्युत्पत्तिसिद्धः पुरुषशब्दवाच्यो विराड्देह एवोच्यते इति बोध्यम्। वै निश्चयेन सोऽन्नादुत्पन्नत्वेन प्रसिद्धः, एषः परिदृश्यमानः पुरुषो विराड्देहः अन्नरसमयः अन्नरसप्रचुर इत्यर्थः। एतेन आकाशमारभ्यान्नरसमयाः पदार्थाः कारणरूपा लौकिकाकाशादिभ्यो भिन्ना

ज्ञेयाः । अत्र श्रीभागवताद्युपबृंहणानुरोधात् प्रथमं विराड्देहरूपब्रह्माण्डोत्पत्तिः, तदनु भगवत्प्रवेशः, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । एवं च ब्रह्मशरीरमेवैतदुपनिषदुक्तो ब्रह्माण्डदेहः, न तु जीवशरीरमिति; तदन्वस्मदादिदेहोत्पत्तिस्तस्मादित्यादिकं ज्ञेयम् ।

अत्रान्नमयशब्दमारभ्यानन्दमयान्तशब्देषु सर्वत्र प्राचुर्य एव मयट् , न तु विकारे । 'द्व्यचश्छन्दसी'ति सूत्रेण छन्दसि द्व्यच एव विकारे मयड्विधानात् । न चान्नरसमयविज्ञानमयानन्दमयशब्देष्वनेकाच्त्वात् प्राचुर्ये मयडस्तु, अन्नमयप्राणमयमनोमयेषु तु द्व्यच्त्वात् विकारार्थ एव मयडस्त्विति वाच्यम् । प्राचुर्यार्थकान्नरसमयविज्ञानमयानन्दमयमध्यपतितप्राणमयमनोमयशब्दयोरपि प्राचुर्यार्थ एव मयटो योग्यत्वात् । एकरूप्यस्य जायमानत्वात् । अन्यथा, अर्धजरतीयतया वैषम्यं प्रसज्जेत । न चान्नरसमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयशब्देषु 'विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्या'दिति सूत्रेण विकारार्थत्वं मयटः पूर्वपक्षीकृत्य प्राचुर्यार्थे मयडिति श्रीमद्व्यासचरणोक्तः सिद्धान्तः कथं सङ्गच्छताम् ? प्राणमयमनोमयशब्दयोर्द्व्यच्त्वाद्विकारे मयटः सम्भवेपि विज्ञानमयानन्दमयशब्दयोरनेकाच्त्वाद्विकारे छन्दसि मयटो दुर्लभत्वादिति वाच्यम् । अनेकाच्त्वादपि छन्दसि क्वचिद्विकारे मयडित्यत्र 'विकारशब्दादिति चे'दिति भगवन्निश्वसितरूपसूत्रोक्तपूर्वपक्षस्यैव प्रमाणत्वात् । अन्यथा, आनन्दमयशब्दस्यानेकाच्त्वाद्विकारे मयटोऽप्रसक्तेर्विकारार्थत्वस्य पूर्वपक्षीकरणमसङ्गतं स्यात् । तस्मादस्मदुक्तमेव साधु ।

यत्त्वन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयशब्देष्वन्नप्राणमनोविज्ञानशब्देभ्यो विकारे आनन्दशब्दात् प्राचुर्ये, मयडिति मायावादिवृत्तिकाराः । अन्नरसादिसर्वत्रशब्देभ्य एवाविशेषाद्विकार एव मयडिति मायावादिभाष्यकाराश्च वदन्ति ।

तन्न साधीयः । प्राणमनःशब्दाभ्यां 'द्व्यचश्छन्दसी'ति सूत्रेण विकारे मयटः सुलभत्वेप्यन्नरसमयविज्ञानमयशब्दयोरनेकाज्विशिष्टयोर्विकारे दुर्लभत्वमिति न किञ्चदेतत् ।

अत्र मायावाद्यनुसारिणो वैयाकरणंमन्या एवं समादधते । 'श्रीग्रामण्योश्छन्दसी'ति सूत्रे श्रियः श्छन्दसीत्यंशस्तावद्भगवता भाष्यकारेण प्रत्याख्यातः । छन्दसि सर्वविकल्पानां व्यवस्थितत्वात् । अत एव 'उभैत, नित्यं छन्दसि, बह्वादिभ्यश्च, नित्यं छन्दसि' इत्यादयोपि वैयाकरणैरेवमेव प्रत्याख्याताः । न्यायसाम्यात् । एवं स्थिते तात्पर्यग्रहस्य न्यायानुसन्धानेनैव सिद्धेस्तदर्थं पाणिनिसूत्रारम्भादर्शनाचेह 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो'रिति सूत्रे भाषायामिति त्याज्यम्, तथा च 'द्व्यचश्छन्दसि' 'नोत्वद्वर्ध्रबिल्वा'दिति त्रिसूत्र्यपि त्याज्या । सति हि भाषाग्रहणे शरमयं बर्हिरित्यादिसिद्ध्यर्थं द्व्यच इत्यारब्धं, 'मौञ्जं शिक्यं वार्ध्रं चर्म वैल्वो यूप' इत्यादौ द्व्यच इति प्राप्तं प्रतिषेद्धुं 'नोत्व'दिति सूत्रमारब्धम् । उक्तरीत्या तु सर्वमिदं निष्फलं, भाष्यकारैरेव प्रत्याख्यातप्रायं च । एवैव वेदान्तसूत्रवृत्तिकृतामपि गतिः । तैरप्यानन्दमयादितरेषु विकारे मयटः स्वीकारात् । अन्नमयप्राणमयमनोमयेषु द्व्यच्त्वान्मय-

द्रूसम्भवेपि विज्ञानमयशब्देपि विज्ञानमयडर्थे उक्तप्रकारस्यैवानुसर्तव्यत्वात् । तथा च आनन्दमयेपि विकारार्थतैवोचिता । एकरूप्यात् । यद्वा, प्राचुर्ये मयट्यपि प्रकृत्यर्थविरोधिनो लेशतोनुवृत्तिलाभात् प्रकृते विकारार्थः पर्यवस्यतीत्याशयः । अथवा, 'नित्यं वृद्धशरादिभ्य' इत्यत्र भाषाग्रहणं नानुवर्तते । अनुवृत्तावपि भाषायां नित्यम्, अन्यत्र तु क्काचित्क इत्याश्रित्य मयट् सुसाध्यः । अत एव शरादिषु मृच्छब्दपाठोप्यर्थवान् । 'मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गम'मिति मन्त्रदर्शनात् । न च भाषार्थ एव मृच्छब्दस्य पाठ इति वाच्यम् । आरम्भसामर्थ्यादेव सिद्धे नित्यग्रहणं योगविभागेनान्यत्रापि क्वचिन्नित्यार्थम् । तेन 'एकाचो नित्य'मित्युक्त्वा वाङ्मयं त्वङ्मयमित्यादेराकरे उदाहृतत्वात् । एवं वदता मृच्छब्दपाठवैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वात् । यद्वा, 'हेतुमनुष्येभ्य' इत्यनुवर्तमाने 'मय् चे'ति सूत्रेणागतार्थे मयट् विकार इति स्वार्थिकार्थकथनमेव । सर्वथापि शङ्करभगवत्पादोक्तिरनवद्यैवेति दिक् ।

अत्र ब्रूमः । एवं मायावादिभाष्यकारवृत्तिकारोक्तीनां विकारे मयटः साधनेन, अथ तत्कृतव्याख्यानस्वार्थिकार्थपरतया वा साधीयस्त्वेन विकारार्थे साधितेपि सूत्रकारमायावादिभाष्यकारयोः स्वरूपविचारे क्रियमाणे प्राचुर्यार्थ एव मयडत्र वक्तुं योग्यः, न तु मायावादिभाष्यकारोक्तविकारार्थे । तथाहि, यतः 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानि । अस्यैवैतानि निःश्वसितानी'ति बृहदारण्यकश्रुतिर्वेदेतिहासपुराणविद्यापदोक्तवेदाङ्गोपनिषच्छ्लोकसूत्रपदोक्तवेदान्तमीमांसासूत्रवेदान्तस्थिततदेषाभ्युक्तेति व्याख्यानानुव्याख्यानपदोक्तपूर्वव्याख्यानपश्चाद्भाविगीतादीनां महतो भूतस्येति पदद्वयोक्तपरमकाष्ठापन्नस्य ब्रह्मणो निःश्वसितत्वमाह । एवञ्च, सूत्रकर्तृत्वं परमकाष्ठापन्नब्रह्मण एव, भाष्यकर्तृत्वं तु तदंशांशभूतमायावाद्याचार्याणाम्; तत्र कस्योक्तिर्बलीयसीति विचारे उपजीव्यत्वात् परमकाष्ठापन्नब्रह्मण एवोक्तिर्बलीयसी, न त्वंशांशोक्तिः, उपजीवकत्वात् । एवञ्च, अन्नरसमयादिषु प्राचुर्यार्थक एव मयट्, न तु विकारे इति स्वाभिप्रायो 'विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्यादि'ति सूत्रेण स्वनिःश्वसितरूपेण प्रकटीकृतपरमकाष्ठापन्नब्रह्मणैवेति नावकाशस्तदंशांशरूपाणां मायावाद्याचार्याणां परमकाष्ठापन्नब्रह्मनिःश्वसिताभिप्रायवर्णने । किञ्च, श्रीभागवतीयैकादशस्कन्धे 'किं विधत्ते किं प्राचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चने'त्यनेन स्वेतरेषां स्वनिःश्वसितरूपश्रुत्यभिप्रायाज्ञानं स्वस्यैव च तदभिप्रायज्ञानमुक्तं परमकाष्ठापन्नब्रह्मणा श्रीकृष्णेन । युक्तं चैतत्, स्वाभिप्रायः स्वेनैव बुध्यत इति । एवञ्च, भगवदभिप्रायाज्ञानादपि नावकाशोंशांशरूपाणां मायावाद्याचार्याणां परमकाष्ठापन्नब्रह्मनिःश्वसिताभिप्रायवर्णने, किञ्चित् तेजोंशवतां खद्योतपोतानां निजकिरणघोरणीविधूतविश्वध्वान्तस्य भास्वतोभिप्रायवर्णन इव ।

ननु श्रीकृष्णस्वरूपस्य कथं परमकाष्ठापन्नब्रह्मत्वमिति चेत्? शृणु । वेदविभागे

पुराणेतिहासधर्मब्रह्ममीमांसाद्यविर्भावनेनाप्यजातचित्तप्रसादानां श्रीमद्व्यासचरणानां नारदोपदिष्टभक्तियोगकृतसामाध्यनुभूतश्रीकृष्णस्वरूपदर्शनेनैव चित्तप्रसादो जात इति स एव परमकाष्ठापन्नः । न तु नारायणादिः शिवादिर्वेति जानीहि ।

यत्पुनर्महाभाष्यकारकृतसूत्रप्रत्याख्यानप्रकारेण स्वयं सूत्राणि प्रत्याख्याय मायावादिवृत्तिकारभाष्यकारोक्तविकारार्थकमयटः साधनं कृतं विज्ञानमयानन्दमयशब्दयोरपि मायावाद्यनुसारिवैयाकरणंमन्यैः, तदपि महाभाष्यकारकृतसूत्रप्रत्याख्यानाभिप्रायाज्ञानविजृम्भितमेव, यतो महाभाष्यकारा हि शेषावताराः, ते शेषास्तु सर्वदा दास्यभावेन भगवन्तं भजन्ते शय्यादिरूपेण । एवञ्च ते कथं स्वप्रभुभगवन्निश्वसितरूपाणि व्याकरणसूत्राणि प्रभुसम्मितशब्दत्वात् प्रत्याचक्षीरन् । न हि दासेन स्वप्रभुवचनं प्रत्याख्यातुं शक्यम् । दासधर्माभावात् । एवञ्च सति वृत्तिकारोक्तानां 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इत्यादीनां वार्तिकानां 'झलो झली' त्यादेर्झल्ग्रहणाद्यपकृष्य यत् प्रत्याख्यानमत्याग्रहेण कृतं महाभाष्यकारैस्तत्र स्वप्रभ्वपेक्षयापि स्वस्मिन्नधिकज्ञानाविष्कारकृतौ वार्तिककारस्योपरि प्रद्वेषेणैवेति वयं ब्रूमः । एवं सर्वज्ञत्वात् स्वप्रभुनिश्वासत्वेन व्याकरणसूत्रज्ञानवद्भिरपि महाभाष्यकारैर्यत्सूत्रप्रत्याख्यानप्रकारप्रदर्शनं कृतं, तदासुराणां भगवदभिमेतव्यामोहोत्पादनेन भगवन्निश्वसितरूपव्याकरणसूत्रप्रत्याख्यानजनितपापोत्पत्तिद्वारा निरयपातनाभिप्रायेणैव । वेदविरुद्धपातञ्जलशास्त्रकरणवत् । न च मात्रालाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्त इति व्याकरणसिद्धान्तान्महाभाष्यकारोक्तप्रकारकसूत्रप्रत्याख्यानप्रदर्शितलाघवानङ्गीकारे वैयाकरणसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्ग इति वाच्यम् । मात्रालाघवेनेत्यादिसिद्धान्तस्य व्याकरणसूत्रेषु कुत्रापि कण्ठरवेण प्रतिपादितत्वाभावात् । अयं हि लोकव्यवहार पाण्डित्यप्रकाशक इति लोक एव मन्तव्यः, न त्वलौकिकवाक्येष्वपि । अत एव प्रामाणिकं गौरवं न दोषावहमिति प्रेक्षावतां प्रवादः । अन्यथा 'अथ शब्दानुशासन'मिति महाभाष्यकारकृतसन्दर्भस्थवर्णगौरवं प्रत्याख्याय 'अथ शब्दशास्त्र'मितिवर्णलाघवमूलकं सन्दर्भविरचनं वैयाकरणानां प्रसज्जेत । तस्मादयं सिद्धान्तो लौकिकवाक्यविषयक एव, न त्वलौकिकसाङ्गवेदादिवाक्येष्वपीति न किञ्चिदेतत् । न च तर्हि व्याकरणे पाणिनीये पाणिनिकर्तृत्वप्रसिद्धव्याघात इति वाच्यम् । 'तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः । आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः' इति मात्स्यवचनेन ब्रह्मणो मुखादेव साङ्गोपाङ्गवेदाविर्भावोक्तेः पाणिनेः स्मर्तृत्वस्यैवाभ्युपगन्तुं योग्यत्वात् । एवं च सति सूत्रानुक्तानां वार्तिककारेण पूरणात् सूत्रकारापेक्षया वार्तिककारस्य बहुज्ञत्वात् सूत्रकारापेक्षयाधिकं प्रामाण्यम् । एवमेव वार्तिकानि प्रत्याख्याय सूत्रेष्वेव वार्तिककारोक्तप्रदर्शनान्महाभाष्यकारस्य वार्तिककारापेक्षया बहुज्ञत्वाद्वार्तिककारापेक्षया महाभाष्यकारस्य प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षत एव परिदृश्यमानत्वाद्यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं यत्सिद्धान्तितं वैयाकरणैस्तदपि परास्तम् । यतः 'अस्य महतो भूतस्ये'ति श्रुतौ विद्यापदोक्तषडङ्गविद्यासु व्याकरणस्यापि सङ्ग्रहाद्भगवत एव व्याकरणसूत्रकारत्वात्तदपेक्षया वार्ति-

ककारमहाभाष्यकारयोर्बहुज्ञत्वहेतुना सूत्रकारभगवदपेक्षया प्रामाण्यं वक्तुमशक्यमेव । न हि भगवान् कस्याप्यपेक्षयाल्पज्ञ इति श्रुतिपुराणेषु श्रुतमस्ति । अपरञ्च, वार्तिककारेण सूत्रकारानुक्तकथनं यत्तत् किं वेदलोकयोस्तादृशप्रयोगादर्शनेन, आहोस्वित् तत्र प्रयोगदर्शनेन वा । नाद्यः । वेदलोकयोः प्रयोगादर्शनेन सूत्रानुक्तकथने तत्कथनस्य निष्प्रयोजनकत्वापत्तेः । नान्त्यः । वेदलोकयोः प्रयोगदर्शनेन सूत्रानुक्तकथने तु सूत्रेषु कथनाभावेपि भगवता तादृशप्रयोगस्य वेदे कृतत्वेन तादृशप्रयोगस्य भगवदभिप्रायगोचरत्वेन तदभिप्रायस्यैव वार्तिककारेणोक्तत्वाद्वार्तिककारस्य बहुज्ञत्वाभावेन स्वतन्त्रप्रामाण्याभावात् । एवमेव महाभाष्यकारोक्तप्रकारेपि पूर्वोक्तविकल्पद्वये कृते महाभाष्यकारस्यापि बहुज्ञत्वाभाव इति सूत्रकर्तृभगवदपेक्षया स्वतन्त्रप्रामाण्याभाव इति बुध्यध्वम् । एवं च सति महाभाष्यकारैर्व्याकरणसूत्रप्रत्याख्यानप्रकारप्रदर्शनं यत्तत्त्वासुराणां व्यामोहोत्पादनेन निरयपातनाभिप्रायकमेव, न तु सर्वथा सूत्रप्रत्याख्यानाभिप्रायकमिति सिद्धम् । तथा च सूत्रप्रत्याख्यानप्रकारेण प्रयोगसाधनमसाधनमेवेति नादरणीयमास्तिकैः प्रेक्षावद्भिः ।

अत्रेदं ज्ञेयम् । यत्र प्रयोगसाधकसूत्रे 'छन्दसी'त्युक्तं, स प्रयोगस्तु वेद एव साधुः, न लोके । यत्र तु भाषायामित्युक्तं, स प्रयोगस्तु लोक एव साधुः, न वेदे । यत्र तूभयमपि नोक्तं, स प्रयोगस्तु वेदे लोके च साधुः । यस्तु प्रयोगः सूत्रानुक्तोपि वेदे लोके च दृष्टः, स प्रयोगः स्वतन्त्रेच्छया भगवता वेदे प्रयुक्तो, निषेधकाभावात् स प्रयोगो लोकेपि प्रयुक्तः साधुरेव, भगवता प्रयुक्तत्वादिति दिक् ।

यदपि यद्वा प्राचुर्ये मयडपीत्यारभ्य विकार इति स्वार्थिकार्थकथनमेवेत्यन्तेनोक्तं पक्षत्रयम्, तदपि ' विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्या'दिति सूत्रेण विकारार्थस्य पूर्वपक्षीकरणेनाप्राचुर्यार्थत्वस्य स्थापनेन भगवतैव निरस्तमिति नास्माकं प्रयासकरणमिति सर्वं चतुरस्रम् ।

ननु शाकमयः पाक इत्यत्र शाकप्राचुर्येप्यन्यस्यापि द्विदलादेस्तदपेक्षया न्यूनसत्त्वं प्रतिपद्यते, पाके न केवलशाकसत्त्वमेव, तथात्रापि प्राचुर्ये मयडङ्गीक्रियमाणे सर्वत्रानल्पसत्त्वमप्यायाति, तत्र तदन्यत्किमित्यत्रोत्तराभावः, अथ चानन्दे दुःखरूपान्यसत्त्वेऽङ्गीक्रियमाणे आनन्दस्य परब्रह्मताहानिः, एवं च फलत्वाभावोपीति चेत्? सत्यम् । आकाशादिरूपान्यसम्भेदस्य विराड्देहरूपे अन्नमये व्यानमारभ्याकाशपृथिव्यन्तपदार्थसम्भेदस्य प्राणमये, अथ च यजुरारभ्याथर्वाङ्गिरसान्तपदार्थसम्भेदस्य च मनोमये, अथ च श्रद्धामारभ्य महरन्तपदार्थसम्भेदस्य चिद्रूपे विज्ञानमयशब्दोक्तेर्विराडात्मनि निरुपधिकारुण्यवत्त्वेनानन्दमयेत्यलौकिकदुःखसम्भेदस्य, अथ च प्रियमारभ्य ब्रह्मान्तसम्भेदस्य च सत्त्वेनैवोपपत्तेरिति न त्वदुक्त्यवकाशः । न च दुःखसम्भेदे भगवत्यङ्गीक्रियमाणे विकारित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम् । ' यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रिति श्रुतेः ब्रह्मणः सर्वशक्तिमत्त्वाद्विरुद्धसर्वधर्माणां तत्र विद्यमानत्वात् 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुतेः स्वाभाविकानामेव सर्वधर्माणां भगवति सत्त्वाद्विकारसम्बन्धाभावादिति दिक् ।

नन्वन्नरसमयस्य शिरआदिकं किं स्वरूपमित्याकांक्षायामाह तस्येदमेव शिर इत्यादिना । तस्यान्नरसमयस्य इदमेव परिदृश्यमानमन्नरसमयमेव शिरः । अयं पूर्वोक्तपरिदृश्यमानान्नरसमय एव दक्षिणः पक्षः, दक्षिणो बाहुः । अयं पूर्वोक्तपरिदृश्यमानान्नरसमय एव उत्तरः पक्षः, वामो बाहुः । अयं पूर्वोक्तपरिदृश्यमानान्नरसमय एव आत्मा देहमध्यभागः । 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मे'ति श्रुतेः । इदं परिदृश्यमानान्नरसमयमेव पुच्छं पश्चाद्भागः पृष्ठकटिनितम्बाः । 'पुच्छः पश्चात्प्रदेशे स्याल्लाङ्गूलेपि च कथ्यत ' इति विश्वोक्तेः । अथ च प्रतिष्ठा आधारधारादिरूप इत्यर्थः । अयं प्रकारो व्याख्यानेऽस्मदादिवत्पुरुषरूपेण तत्त्वेषु ब्रह्माण्डे च प्रवेशपक्षे, पक्षिरूपेण प्रवेशपक्षे तु 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते' । 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविश ' दिति श्रुतिभ्यां कदाचिच्छरीराणि सृष्ट्वा, तत्र पक्षिरूपेणैव परमात्मा प्रविष्ट इति विराड्देहस्थानां पञ्चानामप्यानन्दमयान्तानां पक्षिदेहरूपत्वमेव, अत एव शिरःपक्षमध्यभागपुच्छप्रतिष्ठामात्रावयवानामेवोक्तिः । अन्यथा ' द्वादशाङ्गो वै पुरुष ' इति श्रुतेर्द्वादशाङ्गान्युक्तानि स्युः । तस्मादनया श्रुत्या पक्षिरूपप्रविष्टपरमात्मस्वरूपानुसारेणैवान्ये कोषा उच्यन्ते । अत एव पुच्छशब्दस्य पुच्छपरत्वेन व्याख्यानेपि न क्षतिः । अत्रायं निष्कर्षः । ' तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत ' इत्यत्रात्मशब्देनोक्त आनन्दमयोऽनन्तरूपोऽनन्तस्वभावत्वात् सर्वत्र स्थित एव, यदा 'तत्सृष्ट्वा तदेव प्राविश'दिति श्रुत्युक्तानुप्रवेशरूपायां लीलायां ब्रह्माण्डशरीरे श्रुत्युक्तास्मदादिपक्षिरूपान्यतररूपानन्दमयरूपेण प्रविविक्षति, तदा तादृशमेवान्नरसमयादि विज्ञानमयान्तं सृजति, तथैव लीलायाश्च कीर्तितत्वात् । एवं च कदाचित् ब्रह्माण्डशरीरं पक्षिरूपं कदाचिदस्मदादिवत् पुरुषरूपमिति सिद्धम् । अस्मदादिद्विपदचतुष्पदादिशरीरेषु स्वतन्त्रेच्छतया द्विपदचतुष्पदरूपाणि पूर्वं सृष्ट्वा तेष्वभिलषितान्नमयाः पक्षरूपेण प्रविशन्तीति बोध्यम् । *अन्यथास्मदादिषु द्विपदचतुष्पदशरीराणामेवोपरि दृश्यमानत्वाच्छ्रुत्युक्तपक्षिरूपत्वबाधः* प्रसज्जेत । अत एव पक्षिरूपेणास्मदादिशरीरप्रविविक्षायां 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविश 'दिति श्रुतिः पूर्वद्विपदचतुष्पदशरीरसृष्टिं पश्चाद्भगवतः पक्षिरूपेण तत्र प्रवेशमाह । एवं चानन्दमयस्यैवाकारसमर्पकत्वेन ह्येत आकारा अन्यस्मादाविर्भूता इति दिक् । वस्तुतस्त्वानन्दरूपस्याधिदैविकत्वेन सर्वाकारवत्वात् पुरुषरूपेष्वस्मदादिसदृशपुरुषरूपेणैव प्रवेशः, पक्ष्यादिशरीरेषु पक्ष्यादिरूपेणैव प्रवेशः, सर्वरूपविशिष्टत्वेनैव हेतुना च प्रत्येकं तत्त्वसदृशरूपेण ब्रह्माण्डसदृशरूपेण च प्रवेशस्तत्त्वेषु ब्रह्माण्डे च । अत एव 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश 'दिति श्रुतौ शब्दग्राहिकया पुरुषपक्ष्यादिरूपनिर्देशेन नान्तःप्रवेश उक्तः, किन्तु सामान्यत एव । एवं च श्रुतौ पक्षिरूपकथनं उपलक्षणविषयेति ज्ञेयम् ।

नन्ु आनन्दमय एकस्यैव ब्रह्मणोऽचिन्त्यशक्तित्वात् यस्मिन् समये पुच्छत्वं तस्मिन्नेव

समये प्रतिष्ठात्वमपि । एवमेव विज्ञानमये एकस्यैव महत्तत्त्वस्यापि देवत्वाद्यस्मिन् समये पुच्छत्वं तस्मिन्नेव समये प्रतिष्ठात्वमपि, यस्मान्महत्तत्त्वादेर्देवत्वम्, अत एव तृतीयस्कन्धे 'नमाम ते देव पदारविन्द 'मित्यादिका महत्तत्त्वादिकृता भगवत्स्तुतिः श्रूयते । एवमेव मनोमयेऽथर्वणाङ्गिरसां च दृष्टानां मन्त्राणां बहूनामेव प्रतिष्ठात्वोक्तेर्यस्मिन्नेव समये केषाञ्चिन्मन्त्राणां पुच्छत्वं तस्मिन्नेव समये केषाञ्चिन्मन्त्राणां पुच्छत्वं प्रतिष्ठात्वमपि । एवमेव प्राणमये महत्तत्त्ववत् पृथिव्या अपि देवतात्वाद्यस्मिन्नेव समये पुच्छत्वं तस्मिन्नेव समये प्रतिष्ठात्वमपि । अन्नरसमये तु अन्नरसमयस्य चरणादेरधोमुखप्रसृतपादशयने पुच्छत्वेपि न तस्मिन्नेव समये प्रतिष्ठात्वम् । उत्थितदशायां प्रतिष्ठात्वेपि न पुच्छत्वमिति चेत् ? न । शयनोत्थितदशयोरपि चरणद्वये पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वयोरविरोधात् । न चैकस्यैव पुच्छत्वं प्रतिष्ठात्वं चैकस्मिन् समये क्वापि न दृष्टमिति वाच्यम् । जिघांसूत्क्षिप्तदण्डदर्शने क्रुद्धस्योत्थितस्य चतुरङ्गुलपुच्छमात्रे भूमिष्ठस्य सर्पस्य पुच्छे पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वयोर्दृष्टत्वात्, तथैव प्रकृतेपि दीयतां दृष्टिरिति न किञ्चिदेतत् । यद्वा, पश्चाद्भागस्थितावयवस्य नितम्बस्य चरणद्वयस्याप्यन्नरसमयत्वान्नितम्बस्य पुच्छत्वे चरणद्वयस्य प्रतिष्ठात्वेप्यन्नरसमयस्य श्रुत्युक्तपुच्छत्वप्रतिष्ठात्वयोरव्याघातात् । यद्वा, विराड्देहस्थत्रयोविंशतितत्त्वानां यथा देवतात्वं, तथा तत्रत्यान्नरसमयस्य अन्नरसमयस्यापि देवतात्वात् पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वे सम्भवत एव । वस्तुतस्तु 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति कठवल्लीश्रुतेः 'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि'रिति गौतमस्मृतेः 'तर्काप्रतिष्ठाना 'दिति व्याससूत्राच्च वेदादीनामाज्ञारूपत्वेन सिद्धत्वाद्यथा वेदो वदति तथैवास्तिकैर्मन्तव्यमिति न वेदे शङ्कासमाधानावतार इति निष्कर्षः । अत एवालङ्कारशास्त्रे वेदस्य प्रभुसम्मितशब्दत्वं, पुराणस्य मित्रसम्मितशब्दत्वं, काव्यादेः कान्तासम्मितशब्दत्वमुच्यत इति दिक् । एतेनेदं नाभेरधस्ताद्यदङ्गं तत्पुच्छं प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छं मध्ये लम्बमानसामान्याद्यथा गोपुच्छमिति लक्षणावृत्त्याश्रयणेन कटिनितम्बोरुजानुजङ्घाचरणानां यत् पुच्छत्वमुक्तं मायावाद्याचार्यकृतभाष्ये तत् प्रत्याख्यातं वेदितव्यम् । मुख्यवृत्तिरूपया शक्त्या व्याख्यानोपपत्तौ जघन्यवृत्तिरूपया लक्षणया व्याख्यानस्यायुक्तत्वात् ।

अथ पूर्वोक्तार्थमेव निःसन्दिग्धत्वाय श्रुतिः श्लोकेनाप्याह 'तदप्येष श्लोको भवती'ति । यद्यपि पूर्वमपि निःसन्दिग्ध एवार्थः प्रतिपादितोस्ति तदपि तथापि एष वक्ष्यमाणः पूर्वोक्तार्थस्य विराड्देहरूपान्नरसमयस्य प्रतिपादकः श्लोकोपि भवति वर्तते इत्यर्थः । तमेव श्लोकमाह अन्नाद्वै प्रजा इत्यारभ्य अथैतदपियन्त्यन्तत इत्यन्तेन । अन्नं विद्यते यस्मिंस्तदन्नमित्यर्श आद्यं चासिद्धं रूपम्, अन्यथा व्याख्याने लाक्षणिकत्वमन्नशब्दस्य प्रसज्येत । न चान्नात् पुरुष इत्यत्रोक्तान्नशब्दस्यैव ग्रहणमिति वाच्यम् । तदा 'तदप्येष श्लोको भवती'त्यनेनोच्यमानं पूर्वोक्तान्नरसमयप्रकाशनं विरुध्येत,

तस्मादन्नशब्देनान्नरसमय एवोच्यते । एवं चायमर्थः । अन्नात् पूर्वोक्तान्नरसमयात् प्रजाः प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजा जन्मभाङ्यन्नरसमयानि देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीराणि प्रजायन्ते जन्मभाञ्जि भवन्ति। ताः काः प्रजा भवन्तीत्याकांक्षायामाह याः काश्च पृथिवीं श्रिता इति । याः काश्चेति समानाशब्दोपादानादाब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं याः पृथिवीं श्रिता आश्रितास्ता भवन्ति इत्यर्थः । अत्र मनुष्याणां पृथिव्याश्रितत्वं स्पष्टमेव । स्वर्गादिलोकानामपि सुमेरोरुपरि स्थितत्वाद्देवादीनामपि पृथिव्याश्रितत्वमेव । एवमेवातलादिलोकानामपि भूविवरत्वात् तत्रस्थानां दैत्यदानवनागादीनां पृथिव्याश्रितत्वमेवेति पृथिवीं श्रिता इत्येवोक्तम् । एवं विराडन्नरसमयात् सर्वेषामन्नरसमयानामुत्पत्तिमुक्त्वा तेषां स्थितिमपि तस्मादन्नरसमयादेवाह अथो अन्नेनैव जीवन्तीति । अथो उत्पत्त्यनन्तरं, अन्नेन तादृशान्नरसमयेनैव, जीवन्ति प्राणधारणं कुर्वन्ति। प्राणधारणे सत्येव स्थितेः सम्भवात्। एवं पूर्वोक्तान्नरसमयादेव सर्वेषां स्थितिमुक्त्वा तादृगन्नरसमय एव लयमाह अथैतदपियन्त्यन्तत इति । अथ स्थित्यनन्तरं अन्ततः ल्यब्लोपे पञ्चमी, अन्तं नाशं प्राप्य, अपियन्ति पूर्वोक्तान्नरसमय एव लयं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एवं सर्वान्नरसमयान् प्रति पूर्वोक्तान्नरसमयस्य कारणत्वे सिद्धे सर्वेभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वात् विराड्देह एवागतः पुरुषशब्देनेति पूर्वोक्तार्थेनेति पूर्वोक्तार्थे निःसन्दिग्धत्वं सिद्धमिति हृदयम् ।

अथ पूर्वोक्तान्नरसमयोपासनोपदेशेन पारलौकिकफलप्राप्तिं वदन्ती श्रुतिः पूर्वोक्तपुरुषस्य विराड्रूपत्वमेतेनापि प्रकारेण साधयति अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठमित्यादिना । अन्नं पूर्वोक्तान्नरसमयः, भूतानां उत्पन्नानामुत्पत्स्यमानानां च ज्येष्ठं, पूर्वोत्पन्नत्वात्; तस्मात् स्वज्येष्ठस्य पित्रादेः सर्वैरेवोपासना क्रियत इति, ज्येष्ठत्वरूपकारणात् । सर्वौषधं स्वोपासनया चित्तशुद्धिद्वारा संसाररूपरोगनिवर्तकं पारलौकिकमोक्षरूपफलदानसमर्थं चोच्यते । तदेवाह सर्वं वै तेन्नमाप्नुवन्तीत्यादिना । ये अन्नं ब्रह्म अन्नरसमयं विराड्देहरूपं ब्रह्म उपासते ध्यायन्ति, ते अन्नमेत 'मन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामती'ति वक्ष्यमाणत्वात् क्रममुक्तावन्नरसमयं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तथा च, सर्वज्येष्ठत्वं संसारनिवर्तकत्वं च पूर्वोक्तान्नरसमयस्येति विराड्देहत्वमेवोक्तम् । एतदुपासनाया द्वितीयस्कन्धीयद्वितीयाध्याये संसारनिवर्तकत्वस्योक्तत्वात् । अस्मदाद्यन्नरसमयस्य तु ब्रह्मत्वेनोपासने संसाररोगनिवर्तकत्वेपि सर्वज्येष्ठत्वाभावान्नात्र ग्रहणमिति भावः । एतेनाग्रेतना अपि प्राणमयादयो विराज एवान्तस्था उक्ता अस्मदाद्यन्नरसमयान्तःस्थप्राणमयादिपुरुषकारणभूताः । अत एवाग्रे 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत' इत्यनेनादनकर्तृत्वमुच्यते चेतनधर्मः । न हि अस्मदाद्यन्नरसमयश्चेतनः, अदनकर्मत्वं तु तस्य पुरुषोत्तमापेक्षया । एवञ्च 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'मां विधत्तेभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यह'मिति

वेदगीताश्रीभागवतवचनसिद्धो वेदशब्दवाच्यो लौकिकपदार्थमूलीभूतो ह्यलौकिक एव पदार्थ इति सिद्धान्तोपि नापैतीति दिक् ।

अथ अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठमित्यारभ्य जातान्यन्नेन वर्धन्त इत्यन्तेन पूर्वोक्तार्थं स्मारयन् उपसंहरति अन्नꣳहीत्यारभ्य जातान्यन्नेन वर्धन्ते इत्यादिना । अर्थः स्पष्ट एव । नन्वन्नशब्दस्य का व्युत्पत्तिरित्याकांक्षायां व्युत्पत्तिमाह अद्यतेत्ति च भूतानीति । अत्राप्यर्थः स्पष्ट एव । उच्यत इत्यत्रेति शब्दोऽन्नरसमयपुरुषनिरूपणपरिसमाप्त्यर्थः ।

अथान्नरसमयादिभ्यः क्रमेणोपासितेभ्यः सर्वान्तरमानन्दरूपत्वात् फलरूपं तत्कारणस्यान्यस्यानुक्तत्वात्तदेव च सर्वकारणं सर्वमूलीभूतं, तत्प्राप्त्यैव च पूर्णफलप्राप्तिः, तदर्थमेव च यत्नः कर्तव्य इति वक्तुमग्रिमग्रन्थं प्रस्तौति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योन्तर आत्मा प्राणमय इत्यादिना ।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतां अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात् सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति । ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति ।

तस्माद्विराड्देहत्वेन प्रसिद्धादेतस्मात् मत्प्रत्यक्षादात्मनः आत्मशब्दवाच्याद्विराडन्नरसमयात् वै निश्चयेनान्योन्तरस्तन्मध्यस्थः आत्मा आत्मशब्दवाच्यः प्राणमयः प्राणप्रचुरः, प्राणस्य सर्वापानादिमूलीभूतत्वेन सर्वत्रानुस्यूतत्वात् पुरुषः । अस्तीति शेषः । यद्वा, तस्मात् पूर्वोक्तात् एतस्मादिदानीं कथनार्थं बुद्धिस्थादिति वा व्याख्येयम् । अन्यत् पूर्ववत् । अथान्नमयाकाराविर्भावकत्वं प्राणमयत्वेनाविर्भूतस्यानन्दमयस्य वक्तुमन्नमये प्राणमयस्य स्थितिमाह तेनैष पूर्ण इति । अत्र पूर्वोक्तान्नरसमयपुरुषनिरूपणे 'स वा एष पुरुषोन्नरसमय' इत्यारभ्य 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यन्तेन निरूप्यमाणान्नरसमयरूपाव्यवहितप्रधानं तच्छब्दसमानविभक्तिकैतच्छब्दकेवलतच्छब्देदंशब्दैः परामृष्टं ज्ञेयम् । सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शकत्वात् । तथैव वक्ष्यमाणप्राणमयमारभ्यानन्दमयान्तेनापि निरूप्यमाणप्राणमयादिरूपाव्यवहितप्रधानमेव तच्छब्दसमानविभक्तिकैतच्छब्दैः केवलतच्छब्दैश्च परामृश्यते । उपक्रमसिद्धप्रकारेणैवोपसंहारपर्यन्तमेकरूपत्वेनैव सर्वत्र यथा व्याख्याया उचितत्वात् । न च 'तेनैष पूर्ण' इत्यादिष्वव्यवहितनिरूप्यमाणपरामर्शकत्वं तच्छ-

ब्दस्य 'तस्य पुरुपविधता'मित्यादिषु व्यवहितनिरूपितपरामर्शकत्वं मायावादिभाष्यकारोक्तमेव कुतो नाङ्गीकृतमिति वक्तुं युक्तम् । उपक्रमोक्तप्रकारस्यात्यागात् । बाधकानुपलब्धेश्च । अत्रत्यैकैवत्तैतच्छब्देदंशब्दानां तु निरूपितपरामर्शकत्वमेव, अर्थसङ्गतेस्तथैव जायमानत्वादिति ज्ञेयम् । तथा चायमर्थः । तेन प्राणमयेन एषोन्नमयः पूर्णः सर्वावयवेषु व्याप्तः । यद्वा, पूर्णः साङ्गोपाङ्गो जातः, केनाप्यङ्गेन न न्यून इत्यर्थः । ननु प्राणमयस्य वायुरूपत्वात् निराकारतैव भविष्यतीत्याशंक्याह स वा एष पुरुपविध एवेति । सः इदानीमेवोक्त एषः यस्य निःश्वसितत्वं वेदस्य सः । अथवोपनिषद्वा वदति, प्रत्यक्षः प्राणमयः, वै निश्चयेन पुरुपविधः पुरुपस्य पूर्वोक्तान्नरसमयपुरुषस्येव विधा प्रकारो यस्य ईदृश एव, न तु भिन्नप्रकारः । अङ्गोपाङ्गसहित इत्यभिप्रायः । न चेदं कथं सम्भवतीति वक्तुं शक्यम् । वायुलोके वायुसेवकानां वायवीयशरीरस्य पुराणेषूपलभ्यमानत्वात् । ननु पुरुपविधता अन्नरसमयात् प्राणमये समागता, प्राणमयादन्नरसमये वा समागतेत्याकांक्षायामाह तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविध इति । तस्य प्राणमयस्य पुरुपविधतां पुरुपप्रकारतां साकारतामिति यावत् । तामनु पश्चादयमन्नरसमयः पुरुपविधः । तथा च श्रुतिप्रामाण्यात् प्राणमयो ह्यन्नरसमयस्याकाराविर्भावकः न त्वन्नरसमयः प्राणमयाकाराविर्भावक इति भावः । वस्तुतस्तु, आनन्दमय एव सर्वाकाराविर्भावक इति सिद्धान्तोनुपदमेव वक्ष्यते । नन्वन्नरसमय एव प्राणमयस्याकाराविर्भावकोस्त्विति चेत् ? अत्र वदन्त्यस्मदाचार्याः । सर्वान्ते प्रतिपादितस्यानन्दमयस्याग्र उच्यमान'मिदं सर्वमसृजते'त्यादिना सर्वसर्गकर्तृत्वम् । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दित्यादिना सर्वान्तर्यामित्वम् । 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दित्यादिना सर्वप्राणनाय परपर्यायस्थितिजनकत्वम् । 'भीषास्माद्वातः पवत' इत्यादिना सर्वभयजनकत्वेन प्रलयकर्तृत्वम् । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दमेव प्रत्यभिसंविशन्ती' त्यादिना केवलस्यैवानन्दस्य पुनरपि जगज्जन्मस्थितिलयस्थानत्वं च प्रतिपाद्यते । तथा चान्नरसमयादीनामपि सर्वमध्यपातित्वात् तं प्रत्यपि कारणत्वादानन्दमयस्यैव सर्वाकाराविर्भावकत्वम्, न त्वन्नरसमयस्य । अत एव तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविध इत्यत्रान्नरसमयादीनामनुपदमेव तत्पश्चाद्भावित्वमात्रमुक्तं, न त्वन्नरसमयादीन् प्रति प्राणमयादीनां कारणत्वमुक्तम् । श्रुतौ यद्यन्नरसमयादीनां प्राणमयादिषु प्राणमयादीनां चान्नरसमयादिष्वाकाराविर्भावकत्वेन कारणत्वं स्यात्तदा तस्मात् पुरुपविधादयं पुरुपविध इत्येवोक्तं स्यात्, न तु तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविध इति ज्ञेयम् । न च भृगुवल्ल्यामन्नप्राणमनोविज्ञानानामपि सर्वजगज्जन्मस्थितिलयस्थानत्वं तपसा शिष्येण ज्ञातमिति वाच्यम् । तत्रान्नादीनां सर्वजगज्जन्मस्थितिलयस्थानत्वे ज्ञातेपि न तावता तस्याकांक्षा निवृत्ता, किन्तु आनन्दस्यैव जगज्जन्मस्थितिलयस्थानत्वे ज्ञाते आकांक्षानिवृत्तेत्यानन्दमय एव मुख्यतया जगज्जन्मादिकारणम्, अन्यत्र

तु तद्गतमेव कारणत्वं तस्यैव सर्वोपादानत्वादिति निश्चयस्य सिद्धत्वात् । अन्यथाग्रेप्याकांक्षा स्यात् । न च तदेतदग्रे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्युच्यमानमक्षरब्रह्मैव मुख्यमिति वाच्यम् । अक्षरब्रह्मणः पुच्छत्वप्रतिपादनेनावयवत्वादमुख्यत्वस्यैव ज्ञापितत्वात् । न हि पुच्छं क्वचित्पक्ष्यादिषु प्रधानम्, किन्तु पक्ष्यादिरेव । तथात्राप्यानन्दमय एव प्रधानम्, अक्षरब्रह्म त्वप्रधानमेवेति जानीहि । अत एव गीतायामपि 'अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे'त्यनेन योक्षरपदार्थः स सर्वस्यापि गतिः प्राप्यः, यत्प्राप्य सर्वे संसारे पुनर्न निवर्तन्ते, तादृशमपि तत् अक्षरब्रह्म धाम, 'देहे शृंरश्मा'विति कोशाद् देहगेहकिरणरूपमिति कथनादप्रधानत्वमेव स्पष्टीकृतं भगवता । हि आत्मा गृहस्थो रव्यादिश्चाप्रधानभूतः, किन्तु देहगेहकिरणा एवाप्रधानभूताः । एवञ्च सिद्धमानन्दमयस्यैव सर्वाकाराविर्भावकत्वम्, न त्वन्नरसमयस्य । एतेन मूषानिषिक्ताद्रुतताम्रप्रतिमायां यथा मूषाया आकारसमर्पकत्वम्, तथान्नरसमयस्य तस्य पुरुषविधतामन्व पुरुषविध इत्यनेनोक्तसर्वाकारसमर्पकत्वमिति शङ्करभाष्योक्तं निरस्तं वेदितव्यम् । 'तेनै पूर्ण' इत्यादिषु निरूप्यमाणपदार्थपरामर्शकत्वेन सिद्धस्य प्रक्रमागतस्य तच्छब्दस्य पुरुषविधतामित्यत्रैव पूर्वनिरूपितपरामर्शकत्वे प्रक्रमत्यागार्धजरतीययोः प्रसक्ता उपक्रमोपसंहारयोरेकरूपताया अनिर्वाहात् । अव्यवहितप्रधानपरामर्शकत्वस्य त्यागाच्च । किञ्च अन्नरसमयस्याकारसमर्पकत्वेन्नरसमये त्वाकारः केन समर्पित इति पृच्छामः । तत्रान्नरसेनै समर्पित इत्युच्यते चेत् ? अन्नरसरूपस्य रेतआदेः स्वप्नादिस्खलितस्य स्वाकारविजातीयाकारसमर्पकत्वस्यादृष्टत्वात् । न च योनिरजआदिसम्बन्धविशेषे सति स्वाकारविजातीयाकारसमर्पकत्वं रेतआदेरिति वाच्यम् । सर्वेषु युगेषु विशेषतः कलौ च योनिरेतो रजआदिसम्बन्धेपि पुत्राद्यनुत्पादनेनान्नरसरूपस्य रेतसः स्वाकारविजातीयाकारसमर्पकत्वस्य नियमेनादृष्टत्वात् । न च दुरदृष्टं तत्र प्रतिबन्धकमिति वाच्यम् । दुरदृष्टरूपप्रतिबन्धके सति यदन्नरूपरेतसो न स्वविजातीयाकारसमर्पकत्वं, तदभावे तत्समर्पकत्वमिति त्वयोच्यते तत्रान्नरसे स्वाकारविजातीयाकारः कुत आगतः, अन्नरसस्याप्यत्र कार्यत्वादिति प्रश्ने अन्नादागत इत्युत्तरम्, अन्नस्यापि कार्यत्वादन्ने कुत आगत इति प्रश्ने, पृथिव्या आगत इत्युत्तरम्, पृथिव्या अपि कार्यत्वात्तत्र कुत आगत इत्यादि प्रश्नोत्तरपरम्पराया विपश्चिद्ब्रह्मण्यात्मशब्देनोक्ते विश्रान्तौ सत्यां तस्य ब्रह्मण आनन्दमयत्वादानन्दमयस्यैवाकारसमर्पकत्वमित्यानन्दमय एव सर्वत्राकारसमर्पक इति पूर्वोक्तकल्पनायामप्यन्नरसस्य तादृगाकारसमर्पकत्वाभावात् । अथ ग्रहिलतयान्नरस एवाकारसमर्पक इति ब्रूषे, तदा स्वसमानाकारसमर्पकत्वादन्नरसमयस्य पुरुषस्य भस्मराशीवद्राशीभूतत्वमेव स्यात्, न तु शिरःपाण्याद्याकारवत्त्वमित्यानन्दमय एव पुरुषविधः सर्वत्राकारसमर्पक इति सिद्धम् ।

यत्त्वन्नाद्रेतोरूपेण परिणतात् पुरुषः शिरःपाण्याद्याकृतिमान् स वा एष पुरुषोन्नरस-

मयोन्नरसविकारः । पुरुषाकृतिभावितं सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसम्भूतरेतो बीजम् । तस्माद्यो जायते सोऽपि पुरुषाकृतिरेव स्यात् । सर्वजातिषु जायमानानां जनकाकृतिनियमदर्शनादिति प्रघट्टकेन भावेनैवान्नरसमयपुरुषाकृतौ कारणमिति । तद्विशिष्टं रेत एवाकारसमर्पकमिति मायावादिभाष्यकारा आहुः ।

तत्र वदामः । यस्या भावनाया वैशिष्ट्यं पुरुषाकृतिबीजभूतरेतसि सा भावना कस्य ? किमस्मदादिभावना, उतेश्वरभावना, आहोस्वित् पुरुषसर्वावयवस्य सम्बन्धजनितसंस्काररूपा वा भावना । तत्र नाद्यः । सत्यामपि तादृशास्मदादिभावनायां नियमतः पुत्रादिरूपपुरुषोत्पत्तेरदृश्यमानत्वात्, असत्यामपि तादृशभावनायां पामराणां कामोन्मादेन विस्मृतदेहादीनां च पुरुषाणां पुत्रादिपुरुषाकारोत्पत्तेरुत्पातसूचकविजातीयजीवोत्पत्तेश्चोपलभ्यमानत्वाच्च । पश्वादीनां सुतरां तादृशभावनाभावात्तदुदरे रेतःस्थितौ सत्यां तेभ्यो नियमतः पुरुषाकारोत्पत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च । पुरुषाकृतिभावनाविशिष्टरेतसः पुरुषाकृतिकारणत्वे प्रमाणाभावाच्च । न द्वितीयः । तादृशसर्वसमर्थभगवद्भावनायाः कारणत्वे भगवत आनन्दमयत्वादानन्दामयमात्रस्यैव पुरुषाकारे कारणत्वमस्तु, तेनैवास्तु किं तेनैवेति न्यायात् । एवं चास्मदुक्तार्थानतिरेक एव । न तृतीयः । एतादृशे संस्कारे अङ्गीक्रियमाणेऽपि उत्पातसूचकपुरुषाकृतिभिन्नाकृत्युत्पत्तेर्लोके दृश्यमानत्वात् , न च ' यो योऽन्नमत्ति यश्च रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती'ति छान्दोग्योपनिषच्छ्रुतिस्थ' तद्भूय एव भवती'ति वाक्योक्तं नियमेन तदाकृतिजनकत्वं विरुध्येत । यतः'तद्भूय एव भवती'त्यस्य नियमेन तदाकृतिरेव भवतीत्यर्थस्य मायावाद्याचार्यैः स्वकृततद्भाष्येऽभिहितत्वादिति वाच्यम् । एतादृशार्थस्य झटिति प्रतीयमानत्वाभावात् । प्रतीयते तु तस्योऽन्नादो रेतःसिग्भूय एव पुनरेव भवत्युत्पद्यते इत्यर्थ एव झटिति । एवं चान्नादस्य रेतःसिचो रेतोद्वारेण पुनरुत्पत्तिमात्रमेव प्रतीयते, न तु नियमेन तादृशाकृत्युत्पत्तिः । अत एव सुश्रुते सर्पाद्युत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य उक्ता । दृश्यते चापि लोके मनुष्यादिभ्यस्तदाकृतिभिन्नसर्पव्याघ्रादेरुत्पत्तिः । नियमे सति तस्माद्रेतसस्तद्भिन्नाकृतिर्नोत्पद्येतैव । यद्वा, भूयो बाहुल्येनोत्सर्गतस्तदेव च रेतःसिगेव रेतःसिगाकृतिरेवेति यावत् । भवति कदाचिदन्याकृतिरपि भवतीत्यर्थः । तस्मादस्मदुक्तार्थ एव साधीयान्, लोकानुभवविरोधाभावात् । सुश्रुताद्यायुर्वेदविरोधाभावाच्च । मायावाद्याचार्यकृतोऽर्थस्तु लोकानुभवविरोधात् सुश्रुताद्यायुर्वेदोक्तिविरोधाच्चोपेक्ष्य एवेति कृतं विस्तरेण । न च तर्हि 'अन्नात्पुरुष' इत्यत्र हेत्वर्थकपञ्चम्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् । मृदो घट इत्युक्तेऽपि घटाकारनिर्मापकः कुलाल एव न तु मृत्, तथाकारसमर्पको भगवानानन्दमय एव । अन्नादिकं तूपादानकारणमिति पञ्चम्यनुपपत्तेरभावात् । न च भवतां हि ब्रह्मवादः,' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' ' स एतावानास '-त्यादिश्रुतेः । एवं चान्नरसरूपस्य रेतसोऽपि ब्रह्मत्वाद्ब्रह्मणश्च भवतां मते साकारत्वाद्रेतसो-

ध्याकारसमर्पकत्वे बाधकाभाव इति वाच्यम् । 'स वै न रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स एतावानासे'ति श्रुत्या रमणार्थमियं हि सृष्टिः । तद्रमणं च समानत्वेन सम्भवति। एकस्य रमणेच्छायामन्यस्येच्छाया अनुदये रमणानिर्वाहात् । किञ्च, सर्वेषामपि समानत्वेन पूर्णानन्दत्वात् रमणेच्छोदयोऽप्यसम्भवी । तस्माद्रमणनिर्वाहार्थं सर्वेषु पदार्थेषु यावान् धर्मो यत्रापेक्षितस्तावानेव धर्मस्तत्र प्रकटितः, अन्यस्तिरोभावितो, लीलाशक्त्या । एवञ्च, यस्य यं प्रति उपादानत्वादिषु यो धर्मः प्रकटः, स तद्धर्ममात्रेणैव तं प्रत्युपयोगी । एवञ्चान्नादिषूपादानत्वमात्रमेव पुरुषाकृतौ न त्वाकारसमर्पकत्वमपि । सकलपूर्णधर्माणां स्वस्मिन्नेव भगवता प्रकटितत्वात् भगवानेवाकारसमर्पकः कुलालादिरिव, न त्वन्नादिरिति ज्ञेयम् । किञ्च, मानसानां सनकादीनामन्नरसजन्यत्वाभावेन'अन्नात् पुरुष' इति श्रुतेरप्रामाण्यमापद्येत । न च तत्र सनकादीनां पूर्वस्थितानामेवाविर्भावो मनसः, तेषामवतारत्वादिति वाच्यम् । प्रकृतेऽपि पूर्वस्थितस्यैवाकारस्य भगवताविर्भावितत्वादानन्दमयस्यैवाकारसमर्पकत्वं वज्रलेपायितमिति न किञ्चिदेतत् । एवञ्च, स आनन्दमयः सर्वान्तरः, स एव सर्वाकारसमर्पकः, न त्वन्नमयादिरिति सिद्धान्तो निःप्रत्यूहः सिद्धः । तत्र भगवान् सर्वकरणसर्वभवनसमर्थत्वादिच्छया वचनेन स्वरूपेणापि सर्वं कर्तुं भवितुं च शक्त इति स्वरूपेणैव पुरुषविध आनन्दमयो विज्ञानमयमनोमयप्राणमयान्नमयेष्वपि स्वाकारसदृशाकारमाविर्भावितवान्, स्वविभूतिरूपविराड्देहस्मदादिविज्ञानमयमनोमयप्राणमयान्नमयमूलीभूतमिति ध्येयम् । एवं यथा प्रतिमाकर्तारः सान्तरालप्रतिमाकरणे पूर्वं मृदा प्रतिकृतिं कुर्वन्ति, पश्चात्तदुपरि यथावयवं सिक्थकं लापयित्वा, पुनस्तदुपरि यथावयवं मृत्तिकां लापयन्ति, ततस्तच्छिरःस्थछिद्रेण पादस्थितछिद्रेण वा द्वारभूतेन तप्तद्रुतस्वर्णादिधातून् पूरयन्ति, तदा तप्तद्रुतधातुसंयोगात्तदैव सिक्थकं विलीयाधोभागेन निर्गच्छति, तदा तत्र तदाकारसमर्पिका, मृत्प्रतिकृतिरिव भवति, तथाप्यन्तःस्थितानन्दमय एवाकारसमर्पकः, न त्वन्नरसमयादिः, उत्तरोत्तरस्याकारसमर्पक इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः । अन्नरसमयादेः सिक्थकोपरि लापितमृत्तिकास्थानीयत्वान्न तु मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिजनिरन्तरालप्रतिमायां यथा मूषाया आकारसमर्पकत्वं, तथान्नरसमयस्याकारसमर्पकत्वमिति मायावादिभाष्यकारोक्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः अस्मदुक्तप्रकारेणैव वस्तुस्थितेः सम्भवादिति सर्वमनवद्यम् । नन्वानन्दमयस्याकारसमर्पकः क इति प्रश्ने किमुत्तरमिति चेत् । शृणु । आनन्दमयस्य स्वत एव साकारत्वात् । अन्यस्य तदाकारसमर्पकस्यानुक्तत्वात् । न च तथान्नरसमयेऽपि स्वतः सिद्ध आकारः कुतो नाङ्गीक्रियत इति वाच्यम् । 'अन्नात् पुरुष' इत्यनेनान्नरसमयस्योत्पत्तिश्रवणात् । न ह्युत्पन्नस्य स्वत आकारः सम्भवति । तस्मादस्मदाचार्यचरणोक्त एव प्रकारः साधुतर इति दिक् ।

अथ प्रकृतमनुसरामः । एवं पुरुषविधत्वं प्राणमयस्योक्त्वा श्रुतिरवयवानाह तस्य

प्राण एव शिर इत्यादिना । प्राणः प्राणवायुः, शिरो मूर्धा, व्यानः व्यानवायुः, दक्षिणः पक्षो दक्षिणो बाहुः, पक्षिरूपेण प्रवेशे पक्ष एव वा, अपानोपानवायुरुत्तरो वामः, पक्षो बाहुः, पक्षिरूपे पूर्वोक्तप्रकारे पक्ष एव वा । आकाशः वायोरुत्पत्तिस्थानम्, आत्मा मध्यभागो व्यानादिविशिष्टः । 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मे'ति श्रुतेः । मध्यभागादेव शिरोबाह्वादीनामुत्पत्तेः पिण्डोत्पत्तौ निरूपितत्वात् । एवं चाकाशस्य कारणरूपसूक्ष्मवायुरूपत्वमेवायाति । मध्यभागस्यावयवसजातीयत्वनियमात् पृथिवी पुच्छं पश्चाद्भागस्थपक्षरूपः पक्षिरूपेण प्रवेशे । अस्मदादिशरीरसमानरूपेण प्रवेशे तु पृष्ठादिः, अथ प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठा ऊरुजङ्घाचरणादिः । पृथिव्या अप्याकाशवायुतेजोजलांशसहितत्वाद्वाय्वंशेन सजातीयत्वं ज्ञेयम् । 'सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्ये'ति श्रुतेः । अन्यथोदानवृत्त्योर्ध्वगमनं गुरुत्वाच्च पतनं वा भवेत् शरीरस्य । तदप्येष श्लोको भवतीति । अत्र प्राणमयस्यान्नरसमयान्तरत्वं पुरुषविधत्वं च स्वपुरुषविधतामन्वन्नरसमयस्य पुरुषविधत्वं च प्रतिपादितम् । तेन चान्नरसमये प्राणमयस्योपजीव्यत्वं सिद्धमेव यद्यपि, तथापि एष वक्ष्यमाणः श्लोकः पूर्वोक्तार्थप्रतिपादकः पूर्वोक्तार्थदार्ढ्यायोच्यते । तमेव श्लोकमाह प्राणं देवा अनु प्राणन्तीति । अत्र प्राणमयस्योपक्रान्तत्वात् प्राणशब्देन प्राणमय एवोच्यते । भीमशब्देन भीमसेनवत् । न तु केवलप्राणवायुः । तथा चायमर्थः । देवा इन्द्रियाधिष्ठातारोऽग्न्यादयः, प्राणं प्राणमयं, अनु पश्चात्, प्राणन्ति जीवन्ति, प्राणनशक्तिमता प्राणमयांशभूतेन प्राणेन वायुना जीवनमिति । 'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुरि'ति श्रुतेः । एवमेव मनुष्याः पशवो गवादयश्च ये वर्तन्त इति शेषः । प्राणो हि भूतानामायुरिति । हि निश्चयेन प्राणः भूतानां उत्पन्नानामायुः । यतः प्राणस्थित्यैवायुषो व्यवहारः । तस्मात् सर्वायुषमुच्यते इति । तस्मात् कारणात् सर्वायुरेव सर्वायुषमुच्यते कथ्यते । अकारान्तः शब्दोऽयं वेदत्वात् प्रयुक्तः । तस्योपासनां तत्फलं चाह सर्वमेव त आयुर्यन्तीत्यादिना । ते सर्वं विंशत्युत्तरशतवर्षपरिमितं शतवर्षपरिमितं वा आयुः यन्ति प्राप्ता भवन्ति । के त इत्याकांक्षायां आह ये प्राणं ब्रह्मेति । ये पुरुषाः प्राणं ब्रह्म प्राणरूपं ब्रह्म उपासते ब्रह्मत्वेन स्तुवन्ति नमन्ति, जलादिपानान्नादिभक्षणसमये जलान्नादिकं प्राणरूपाय ब्रह्मणे समर्पयाम इति बुद्धिं कुर्वन्ति ते यन्तीत्यर्थः । एतेनापि देवमनुष्यपश्वन्नरसमयरूपदेहानामुपजीव्यः प्राणमय इति बोधितम् । तेन प्राणमयाकारसमर्पकत्वं नान्नरसमयस्य, किन्त्वन्नरसमयाकारसमर्पकत्वं प्राणमयस्यैवेति सिद्धम् । नन्वन्नरसमयप्राणमययोर्देहरूपत्वात्तत्राधिष्ठातात्मा मृग्य इत्याकांक्षायामाह तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति । तस्य प्राणमयस्यैष एव मद्बुद्धिस्थो मत्प्रत्यक्षो वा शारीरः शरीरसम्बन्धी आत्माभिमानी । ननु बुद्धिस्थस्त्वत्प्रत्यक्षो वात्मा स क इत्याकांक्षायामाह यः पूर्वस्यान्नरसमयस्य स एवात्मा प्राणमयस्यापीत्यर्थः । इति प्राणमयात्मा निरूपितः ।

नन्वन्नरसमयाकारे प्राणमय आकारसमर्पकः, प्राणमयस्याकारसमर्पकस्तु क इत्याकांक्षायां मनोमयात्मानमाह तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योन्तर आत्मा मनोमय इत्यादिना ।

तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्येति ।

तस्मात् पूर्वश्रुत्याव्यवहितोक्तादेतस्मात् प्रत्यक्षादात्मनोऽन्यो भिन्नोन्तरोन्तःस्थ आत्मा पुरुषः मनोमयः सङ्कल्पविकल्पात्मकमनःप्रचुर इत्यर्थः । अथ प्राणमयाकारसमर्पकत्वं मनोमयस्य वक्तुं प्राणमये यावत्प्राणमयं मनोमयस्य स्थितिमाह तेनैष पूर्ण इति । तेन मनोमयेनैष प्राणमयः पूर्णो व्याप्तः साङ्गोपाङ्गावयवो वा । मनोमयावयवैरेव प्राणमयावयवानामाविर्भूतत्वात् । तस्य प्रकारमाह स वा एष पुरुषविध एवेति । सः पूर्वमुक्तः एष प्रत्यक्षः मनोमयः वै निश्चयेन पुरुषविध एव, पुरुषस्येव विधा प्रकारो यस्येदृशः साकार इति यावत् । ननु मनोमयस्य साकारत्वे किं प्रमाणमित्याकांक्षायामाह तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध इति । तस्य मनोमयस्य पुरुषविधतां पुरुषप्रकारतामनु पश्चादयं प्राणमयः पुरुषविधः पुरुषप्रकारकः । तथा च मनोमयस्य निराकारत्वे प्राणमये आकारो न स्यादित्यन्यथानुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात् ।

ननु प्राणमयाकारान्यथानुपपत्त्या मनोमयः साकार इत्युच्यते श्रुत्येति भवता श्रुत्यभिप्रायः कल्प्यते । तत्रान्नरसमयाकारेणैव प्राणमयाकारः, प्राणमयाकारेण मनोमयाकारः, मनोमयाकारेण विज्ञानमयाकारः, विज्ञानमयाकारेणानन्दमयाकारो मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमावदिति मायावादिभाष्यकारोक्त एव श्रुत्यभिप्रायः कुतो नाङ्गीक्रियते; एतयापि प्रणाल्या प्राणमयादिष्वाकारसिद्धेरिति चेत् ?

अत्र ब्रूमः । मायावादिभाष्यकारोक्तश्रुत्यभिप्रायेणान्नरसमयस्यैव चेत् प्राणमयाद्याकारसमर्पकत्वम्, तदा ' तस्माद्वा एतस्मादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः तेनैष पूर्ण ' इत्येतदनन्तरं 'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध' इत्यनेन तस्यान्नरसमयस्य पुरुषविधतामनु पश्चात् प्राणमयस्य पुरुषविधत्वं मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमादृष्टान्तेन प्रतिपाद्य, अनन्तरं तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योन्तर आत्मा मनोमयः, तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः, तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योन्तर आत्मानन्दमय इत्येव श्रुतिर्वदेत् , न तु 'तेनैष

पूर्ण' इत्यारभ्य 'अन्वयं पुरुषविध' इत्यन्तं प्रतिवाक्यं वदेत् । प्राणमयन्यायेनान्येषामपि पुरुषविधत्वस्यागतत्वेन 'तेनैष पूर्ण' इत्यादिश्रुतिभागो व्यर्थः स्यात् । अस्मदुक्तप्रकारे तु अन्नरसमयस्योक्तपुरुषविधत्वं कुत आगतमित्याशङ्का मा भूदिति 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यनेन प्राणमयस्यात्मनस्तदन्तःस्थत्वमुक्त्वान्नरसमयस्याकारे प्राणमयः कारणमिति वक्तुं प्राणमयस्य 'स वा एष पुरुषविध' इत्यनेन पुरुषाकारत्वमुक्तम् । तदाकारेणान्नरसमये आकार इति 'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध' इत्येतच्छन्दोक्तप्राणमयस्यान्नरसमयाकारसमर्पकत्वं प्रतिपादितम् । तदनु प्राणमयस्य वायुसमुदायरूपत्वाद्वायावन्नमयसदृशाकाराभावात् कथमन्नरसमयाकारसमर्पकत्वमित्याशङ्का मा भूदिति 'तस्मा'दित्यनेन मनोमयात्मनः प्राणमयान्तःस्थत्वमुक्त्वा प्राणमये आकारसमर्पको मनोमय इति वक्तुं 'स वा एष पुरुषविध एवे' त्यनेन मनोमयस्य पुरुषविधत्वमुक्तं, तदाकारेण प्राणमये आकार इति 'तस्य पुरुषविधतान्वयं पुरुषविध' इत्यनेन तच्छन्दोपात्तमनोमयस्य प्राणमयाकारसमर्पकत्वं च प्रतिपादितम् । अथ मनोमयस्य सद्वृत्तिकमनोरूपत्वात् सद्वृत्तिमनस्यप्याकाराभावात् कथं मनोमयस्य प्राणमयाकारसमर्पकत्वमित्याशङ्का मा भूदिति 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यनेन विज्ञानमयात्मनो मनोमयान्तःस्थत्वमुक्त्वा मनोमये आकारसमर्पको विज्ञानमय इति वक्तुं 'स वा एष पुरुषविध एवे'त्यनेन विज्ञानमयस्य पुरुषविधत्वमुक्तम् । तदाकारेण मनोमये आकार इति 'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध' इत्यनेन तच्छन्दोपात्तविज्ञानमयस्य मनोमयाकारसमर्पकत्वं च प्रतिपादितम् । अथ विज्ञानमयस्य बुद्धिविशिष्टमुख्यजीवरूपसङ्कर्षणांशरूपत्वात् केवलमुख्यजीवरूपसङ्कर्षणांशत्वाद्वा विज्ञानमये आकाराभावात् कथं विज्ञानमयस्य मनोमयाकारसमर्पकत्वमित्याशङ्का मा भूदिति 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यनेनानन्दमयस्य तदन्तःस्थत्वमुक्त्वा विज्ञानमये आकारसमर्पक आनन्दमय इति वक्तुं 'स वा एष पुरुषविध एवे'त्यनेनानन्दमयस्य पुरुषविधत्वमुक्तम् । तदाकारेण विज्ञानमये आकार इति 'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध' इत्यनेन तच्छन्दोपात्तानन्दमयस्य विज्ञानमयाकारसमर्पकत्वं च प्रतिपादितम् । आनन्दमयस्याकारसमर्पकस्तु श्रुत्या कोपि नोक्त इति स्वतःसिद्धाकार एवानन्दमय इति श्रुत्यभिप्रायोऽवगम्यते । एवञ्च, आनन्दमय एव सर्वाकारसमर्पकः, न त्वन्नरसमय इत्यस्मादपि नान्नरसमयस्य सर्वाकारसमर्पकत्वम् । तथा चास्मत्कृतव्याख्याने कोपि श्रुतिभागो व्यर्थो न भवति, मायावादिभाष्यकारकृतव्याख्याने तु भूयान् श्रुतिभागो व्यर्थो भवतीत्यास्तिकाचार्यैरेव विचारणीयमिति दिक् ।

अथ प्रकृतमनुसरामः । तत्र मनोमयपुरुषस्यावयवानाह तस्य यजुरेव शिर इत्यारभ्य अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेत्यन्तेन । यजुरित्यनियताक्षरपादावसानो मन्त्रविशेषः । स एव शिरः मूर्धा, 'मनःपूर्वरूपं वा उत्तररूप'मिति श्रुतेः । पूर्वं मनसि भगवता भावितोऽर्थविशेषः पश्चाद्वर्णात्मकशब्दद्वारा मुखान्निर्गत इति मनोवयवत्वम् । अन्यथा शब्दात्मकस्य यजुषो मनोवयवता न स्यात् । तथा च यजुरादीनां भगवन्मनोवृत्तिविशेषत्वमेव । तस्यैव च मन्त्रत्वं, तस्य तन्म-

नोवृत्तिविशेषत्वे तत्कार्यभूतास्मदादिमनोवृत्तिविशेषत्वमनिर्बाधं सिध्यति । अत एव मानसजपस्य फलातिशय उक्तः । तादृशजपस्य मुख्यमन्त्रजपत्वात् । तदपेक्षयोपांशुजपस्य मध्यमफलत्वम् । तस्य सूक्ष्मशब्दद्वारा निर्गतस्य किञ्चिन्मनोसन्निहितत्वात्किञ्चिद्गौणत्वात् वाचनिकस्य तदपेक्षया निकृष्टफलत्वम् । तस्य स्थूलशब्दद्वारा निर्गतस्यातिमनोसन्निहितत्वेनातिगौणत्वात् । न च शब्दात्मक एव मन्त्रः, शब्दद्वारा तदर्थस्मरणमेव मानसो जप इति वाच्यम् । तदा मानसजपस्यार्थभावनावृत्तिरूपस्य गौणत्वेन मुख्यत्वाभावात्तत्फलातिशयकथनस्यासमञ्जसत्वापत्तेः । 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमा'मिति श्रुतेर्ऋगावृत्तिरूपमुख्यार्थपरित्यागोपपत्तेश्च । नहि शब्दरूपऋगर्थस्मरणस्य मुख्यऋगूपत्वं सम्भवति, शब्दरूपत्वाभावात् । तस्माद्ऋगवन्मनोवृत्तिविशेष एव मन्त्रः । एवमेव ऋगादिरपि मनोवृत्तिविशेष एव । वस्तुतस्तु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला'नित्यादिश्रुतेः सर्वेषामेव ब्रह्मत्वादन्नमयादीनामपि विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मत्वाद्ब्रह्मणश्च 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतेर्विरुद्धधर्माश्रयत्वात् ऋगात्मकत्वेपि यजुरादीनां शिरस्त्वादिकं विनियोजकप्रमाण(?)बलादेव च मानसजपस्य मुख्यत्वं चेति किमपि नासमञ्जसमिति सर्वं सुस्थम् । ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्ष इत्यत्रार्थः स्पष्टः । आदेश आत्मेति । आदेशो ब्राह्मणं अतिदिष्टविशेषानादिशतीति स आत्मा मध्यावयवः । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेति । अथर्वणाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्राः अथर्वाङ्गिरसस्ते पुच्छं पश्चाद्भागस्थपक्षिरूपं पक्षिरूपेण प्रवेशे, अस्मदादिशरीरसमानरूपेण प्रवेशे तु पृष्ठादिः । अथ च प्रतिष्ठा आधारः ऊरुजङ्घाचरणादिरित्यर्थः । तदप्येष श्लोको भवतीति । यद्यपि तस्य यजुरेव शिर इत्यारभ्याथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेत्यन्तेन मनोमयस्य वेदात्मकत्वं प्रतिपादितम् । तदपि तथापि एव मे बुद्धिस्थो वक्ष्यमाणः श्लोकोपि भवति, पूर्वोक्तार्थस्यैव दार्ढ्यायोच्यते । तमेव श्लोकमाह यतो वाच इति । यस्मात् ब्रह्मणः सकाशाद्वाचः वचनानि 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुतेः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्म'न्निति श्रुतेश्च तस्यानन्तत्वात्खानां तस्मात्परान्त्वाच मनसा संकल्पविकल्पकात्मकमनःशब्दवाच्यान्तःकरणेन सहाप्राप्याविषयीकृत्य निवृत्ता भवन्ति, तन्न विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः । ईदृशब्रह्मण आनन्दं लीलादिरूपम् । यद्वा, ब्रह्मण आनन्दं अक्षरब्रह्मसम्बन्ध्यानन्दं 'तद्धाम परमं मम'ेति गीतोक्ताक्षरब्रह्मण्यधिष्ठितमानन्दं पुरुषोत्तमरूपं विद्वान् जानन्ननुभवन्वा पुरुषः कदापि न बिभेति । 'द्वितीयाद्वै भयं भवती'ति श्रुतेर्द्वितीयदर्शनस्यैव भयजनकत्वात् द्वितीयदर्शनजन्यं भयं संसाररूपं न प्राप्नोति, यतः 'स एवाधस्तात्स उपरिष्टा'दिति छान्दोग्योपनिषत्स्थश्रुत्यन्तरात्सर्वत्र भावात्मकानन्दस्यैवानुभवात् । सोनुभवस्तु मनस्येव भवति, मनस्तु तादृशं तदैवानुभवेद्यदा वेदात्मकमनोमयोपासनां कुर्यात् । तथा च तादृशस्य मनसानुभवं कर्तुं वेदात्मको मनोमय उपास्य इति सिद्धम् । एवं च वेदात्मकत्वं मनोमयस्य तात्पर्यवृत्त्या पुनरपि स्मारितं श्लोकेनेति ज्ञेयम् । तत्रान्नमयप्राणमयविज्ञानमयोपासनानामयी त्वन्नं ब्रह्मोपासते, प्राणं ब्रह्मोपासते, विज्ञानं ब्रह्मोपासत इति

कण्ठरवेणैवोक्ता श्रुत्या, मनोमयोपासना तु तात्पर्यवृत्त्येति भेदः । यतोऽन्नमयमुपक्रम्य विज्ञानमयान्तमुपासनैवोक्तेति तन्मध्यपतितस्य मनोमयस्याप्युपासनैवोक्ता । आनन्दमयानन्तरं तूपासनापदाभावान्न तस्योपासना, किन्तु तदनुभव एव फलरूप इति ज्ञेयम् । 'आनन्दं ब्रह्मेत्युपासीते'ति श्रुतिस्तु अक्षरब्रह्मोपासनां बोधयति, न तु रसरूपपुरुषोत्तमोपासनां, पुरुषपदाभावादिति दिक् ।

स्यादेतत् । मनोमयस्य वृत्तिरूपाः सर्वे वेदा अवयवाः उक्ताः, तत्र 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस' इति बृहदारण्यकश्रुतेः, अथ च 'ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृता ' इति श्रीभागवताच्च ऋग्वेदस्य सर्ववेदेभ्यः प्राथम्येन श्रेष्ठत्वात्तस्य प्रधानावयवरूपशिरस्त्वकथनं विहाय यजुर्वेदस्य वृत्तिरूपस्य प्रधानावयवरूपशिरस्त्वकथने किं बीजमिति चेत् ।

अत्र वदामः । फलं पुरुषार्थश्च तावद्दुःखाभावः सुखं च । तत्साधने फलपुरुषार्थशब्दप्रयोग 'आयुर्घृत'मित्यादिष्विवोपचाराज्ज्ञेयः । तत्र दुःखाभावो गौणं फलं गौणः पुरुषार्थश्च । सुखं तु मुख्यं फलं मुख्यः पुरुषार्थश्च । तद् द्विविधम् , ऐहिकं पारलौकिकं च । तत्रैहिकं सुखरूपं फलं लौकिकस्रक्चन्दनादिजन्यं स्थूलतयैकविधमेव । तत्र पारलौकिकं सुखरूपं फलं तु त्रिविधम् । तत्रैकं 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरं, अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मिति वाक्यशेषपूर्वार्धोक्तं सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ सत्यामभिलाषाभावेपि नित्यस्य नियतफलजनकत्वाज्जायमानं दुःखासंभिन्नं ध्वंसाप्रतियोगि च स्वर्गापरपर्यायं सुखम् । द्वितीयं त्वभिलाषे सत्येव जायमानं वाक्यशेषद्वितीयार्धोक्तं स्वर्गलोकं सुखम् । तृतीयं तु मोक्षसुखम् । तत्र सुखचतुष्टयस्यानन्दरूपत्वेपि ऐहिकं सुखं पारलौकिकं च स्वर्गरूपं सुखं स्वर्गलोकसुखं च सुखशब्दवाच्यमेवोत्सर्गतः । क्वचित्तु 'स एको मानुष आनन्दः' 'स एको देवगन्धर्वाणामानन्द' इत्यादिष्वानन्दवाच्यमपि । मोक्षसुखं त्वानन्दशब्दवाच्यमेवोत्सर्गतः । 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठित'मिति श्रुतेः 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'ति श्रुतेश्च । क्वचित्सुखशब्दवाच्यमपि, 'यो वै भूमा तत्सुखं', 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेती'त्यादिषु । तदपि दुःखाभावरूपं सुखरूपं फलं स्वनिष्ठत्वेनानुभूयमानमेव फलम् । अन्यथा यज्ञदत्तकृतस्त्रीसम्भोगजन्यसुखस्य देवदत्तीयफलत्वं स्यात् । अननुभूयमानस्य फलत्वे मानाभावाच्च । एवं च यजुर्वेदभिन्नवेदोपनिषत्सु 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मज्ञानरूपसाधनेन जीवरूपस्य आत्मनः आनन्दरूपब्रह्मरूपता भवतीत्युच्यते, न तु स्वनिष्ठत्वेनानुभूयमानानन्दरूपफलत्वचोच्यते ।'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत' इत्यादितत्रत्यश्रुतिभ्यो मोक्षे शरीराद्यभावेन सुखस्पर्शस्य निषेधात् । एवं चानुभूयमानानन्दरूपताया अनुभूयमानदुःखाभावरूपताया वाभावात् न तत्रोक्तमोक्षसुखस्य मुख्यफलत्वं गौणफलत्वं वा संभवति , किन्तु स्वरूपतः संसाराभावरूपत्वमात्रमेव ।

एवं च ऋग्वेदसामवेदाथर्ववेदोपनिषदुक्तमोक्षसुखस्य फलत्वाभावान्न पुरुषार्थत्वमिति सिद्धम्। यजुर्वेदीयोपनिषत्सु तु माध्यंदिनीयोपनिषदि यद्यपि अन्यवेदोक्तप्रकारक एव मोक्षः प्रतिपाद्यते, तथापि तत्रत्यतैत्तिरीयोपनिषदि तु पूर्वमन्नमयमुक्त्वा, तदान्तरत्वं प्राणमयस्य, प्राणमयान्तरत्वं च मनोमयस्य, मनोमयान्तरत्वं च विज्ञानमयस्य, विज्ञानमयान्तरत्वं चानन्दमयस्य प्रतिपाद्य, मोदप्रमोदयोस्तद्दक्षिणोत्तरपक्षत्वमानन्दस्य मध्यभागत्वमक्षरब्रह्मणः पुच्छत्वं चोक्त्वा, तदनन्तरमानन्दमयस्याशुद्धब्रह्मता 'असन्नेव स भवती'ति श्लोकस्य पूर्वार्धेन निराकृत्य, 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदे'त्युत्तरार्धेन शुद्धब्रह्मता च स्थापिता, यथा 'असन्नेव स भवति'असद्ब्रह्मेति वेद चेदेतस्य श्लोकस्याशुद्धब्रह्मतानिराकरणशुद्धब्रह्मतास्थापनपरत्वं तथानन्दमयनिरूपणे निरूपयिष्यते। तदनन्तरं 'सोकामयत बहु स्यां प्रजायेये'त्यारभ्य 'ततो वै सदजायते'त्यन्तेन तच्छब्दपरामृष्टानन्दमयात्मन एव सृष्टिं प्रतिपाद्य, तस्यां सृष्टौ 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दित्यनेनानन्दमयात्मनः प्रवेश उच्यते तत्र, एवं च सति घटाद्यवच्छिन्नाकाशो यथा घटाद्युपाधिभेदेन बहुरूपः, न स्वभावतः, तथा 'बहु स्यां प्रजायेये'त्यनेनोक्तं बहुभवनं स्वाज्ञानकल्पितपदार्थरूपोपाधिभेदेनानन्दमयेपि, न तु स्वभावतः, तथा चाकाशवदानन्दरूपः सर्वान्तर एव पारमार्थिकसत्तावान्, तदज्ञानकृतः प्रपञ्चस्तु तत्सत्तयैव सत्तावान् । अत एव 'तदनुप्रविश्ये'त्यारभ्य 'सत्यं चानृतं च सत्यमभव'दित्यन्तेन तत्सत्ताविशिष्टप्रपञ्चोत्पत्तिरुक्ता। अत एव 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इत्यत्र 'आचक्षते' इत्यनेन कथयन्त्येव, न तु परमार्थसत्यत्ववत् किमपीति ज्ञेयम्। तथा च प्रपञ्चे न पारमार्थिकी सत्ता, किन्तु व्यावहारिकेव। इत्थं च मायवादप्राप्तौ जाताया'मसद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायते'ति श्लोकस्य पूर्वार्धेनानन्दमयादेव प्रपञ्चोत्पत्तिं पुनरपि पूर्वोक्तार्थदार्ढ्यायोक्त्वा 'तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत' इति तदुत्तरार्धेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मतोक्ता। यथा चैतत्तथैव तस्य श्लोकस्य व्याख्याने स्फुटीभविष्यति। एवमेतावता प्रघट्टकेनानन्दमयस्य सर्वप्रपञ्चकारणतां प्रपञ्चस्य च मायिकत्वनिराकरणपूर्वकं ब्रह्मतां प्रतिपाद्य पूर्वोक्तानन्दमयात्मनो 'रसो वै स' इत्यनेन रसानन्दस्वरूपत्वमुक्त्वा 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'त्यनेन स्थायिभावात्मकभगवत्प्राप्त्यैवानन्दी भेदेनानन्दवान्भवति, एतदन्यज्ञानादिप्रकारेण त्वानन्दस्वरूपमात्रं भवतीत्युच्यते । अत एव निश्चयवाचकवैशब्दोपि तत्र दृश्यते। एवं चानन्दमयस्यानुभूयमानानन्दरूपमुख्यफलत्वं यजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदैवोच्यते समप्रञ्चं, नान्यवेदोपनिषद्भिरिति तस्यैव शिरस्त्वकथने श्रुतेरभिप्राय इति जानीहीति दिक्। तथा च मनोमयस्य यद्यपि सर्वे वेदा वृत्तिरूपा अवयवाः, तथाप्युपनिषदर्थरूपवृत्तिपरतयैव सामान्यतः स्थेयं, तत्रापि यजुर्वेदस्य शिरस्त्वेनान्यवेदरूपाङ्गेभ्यः प्रधानत्वात् फलरूपयजुर्वेदोपनिषदर्थरूपवृत्तिपरतयैव तत्रापि तैत्तिरीयोपनिषदर्थरूपवृत्तिपरतयैव च स्थेयं सर्वैः। यजुर्वेदतैत्तिरीयोपनिषदर्थो हि मुख्यतया 'रसो वै स' इति वक्ष्यमाणश्रुत्या रसरूपमेव ब्रह्म। तथा च मुख्यतया तद्वृत्तिरूपं मनोमयांशभूतं मनः स्थापयेद्, अन्यवे-

दोपनिपदर्थज्ञानादिकं तु तत्प्राप्तियोग्यतासम्पादकमिति गौणतया तद्वृत्तिरूपं मनोमयांशं मनः स्थापयेदिति तात्पर्यार्थः । एवं चानेन 'यतो वाच' इति श्लोकेनापि वेदरूपत्वमेव मनोमयस्येति बोध्यम् । अथवास्मिन् श्लोके ब्रह्मशब्दो वेदपरः । एवं च यतो यस्मादानन्दाद्वाचः वचनानि मनसा सहाप्राप्याविपयीकृत्य निवर्तन्ते निवृत्तानि भवन्ति, एतादृशमानन्दं ब्रह्मानन्दरूपं ब्रह्मणो वेदात् प्रकृतवेदात्मकमनोमयादिति यावत् । तस्माद्विद्वान् सर्वदा तदर्थानुसन्धानरूपोपासनया जानन् भवेत्स कदाचन कदापि न बिभेति, संसाररूपं भयं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अस्मिन् व्याख्याने वेदात्मकत्वं मनोमयस्य पुनरपि कण्ठरवेणोक्तमिति सर्वं समञ्जसमिति बोध्यम् । ननु 'यो देहः स आत्माधिष्ठित' इत्यत्रात्मा क इत्याकांक्षायामाह तस्यैष एवेत्यारभ्य यः पूर्वस्येत्यन्तम् । तस्य मनोमयस्यैष एव मद्बुद्धिस्थ एव शारीरः शरीरसम्बन्धी शरीराभिमानीति यावत्, स आत्माधिष्ठातेत्यर्थः । स क इत्याकाङ्क्षायामाह यः पूर्वस्येति । य आत्मा पूर्वस्य प्राणमयस्य स एव मनोमयस्याप्यात्मा ज्ञेयः ।

ननु मनोमयस्य मनोरूपत्वान्मनस्यप्याकाराभावात्कथं मनोमयस्य प्राणमयाकारसमर्पकत्वमित्याशङ्कायामाह तस्माद्वा एतस्मादित्यादि ।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति । विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान् कामान् समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

तस्मात् श्रुत्युक्तादेतस्मान्मत्प्रत्यक्षान्मनोमयादन्यो भिन्नोन्तरोन्तःस्थ आत्मा देही विज्ञानमयो विशिष्टज्ञानमयो ज्ञानप्रचुरः सर्वज्ञ इति यावत् । स वर्तत इति शेषः । 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित' इति गीतोक्तः प्रथमजीवरूपो भगवान्, न त्वस्मदादिजीवात्मा । 'एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्ये' त्यग्रे वक्ष्यमाणजीवकृतविज्ञानमयोपसंक्रमस्यासामञ्जस्यापत्तेः । न हि स्वयमेव स्वमुपसंक्रामति कश्चित् । भेद एवोपसंक्रमस्य दृश्यमानत्वात् । तेनैष पूर्ण इति । तेन विज्ञानमयेनैष मद्बुद्धिस्थो मत्प्रत्यक्षो वा मनोमयः पूर्णो व्याप्तः, साङ्गोपाङ्गावयवो वा । विज्ञानमयावयवैरेव मनोमयावयवानामुत्पन्नत्वात् । तस्य (विज्ञानमयस्य) मनोमयस्य प्रकारमाह स वा एष पुरुषविध एवेति । स पूर्वमुक्त एष मत्प्रत्यक्षो वै निश्चयेन विज्ञानमयः पुरुषस्येव विधा प्रकारो यस्येदृशः साकार इत्यर्थः । अयमेव पुरुषावताररूपः । ननु विज्ञानमयस्य साकारत्वे किं प्रमाणमित्याकांक्षायामाह तस्य पुरुषवि-

धतामन्वयं पुरुषविध इति । तस्य विज्ञानमयस्य पुरुषविधतां पुरुषप्रकारतामनु पश्चादयं मत्प्रत्यक्षो मनोमयः पुरुषविधः पुरुषप्रकारः । तथा च विज्ञानमयस्य निराकारत्वे मनोमये आकारो न स्यादित्यन्यथानुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात् । तस्यावयवानाह तस्य श्रद्धैव शिर इत्यारभ्य महः पुच्छं प्रतिष्ठेत्यन्तेन । तस्य कर्तव्यार्थे आस्तिकत्वबुद्धिः श्रद्धा, सा शिरो मस्तकम् । अत एव 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति गीतावाक्यम् । ऋतं प्रमीयमाणो धर्मः । सत्यमनुष्ठीयमानो धर्मः । तत्र ऋतं दक्षिणो बाहुः । सत्यं वामो बाहुः । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । स आत्मा मध्यभागः । महत्तत्त्वं विरिञ्चिरूपम् । तत् पुच्छं पश्चाद्भागः । प्रतिष्ठा आधारश्च चरणादिः । अत्र प्राणमय आकाशस्यात्मत्वं पृथिव्याः पुच्छादित्वं, मनोमये यजुरादीनां शिरस्त्वादिकं, विज्ञानमये श्रद्धायाः शिरस्त्वं, प्रमीयमाणानुष्ठीयमानधर्मयोर्दक्षिणवामबाहुत्वं, योगस्यात्मत्वं, महत्तत्त्वस्य पुच्छप्रतिष्ठात्वं च सर्वस्याप्यन्नमयादिविज्ञानान्तस्य (पुरुषावतार)त्वान्नानुपपन्नमिति बोध्यम् ।

अत्रेदं ज्ञेयम् । 'अन्नात् पुरुष' इत्यनेन यः पुरुष उक्तः स नास्मदादिकार्यदेहरूपः अस्मदादिदेहानामनन्तत्वादेकस्योक्तावपि द्वितीयाकांक्षाया अपूर्तेः; किन्तु सर्वकारणरूपो 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः । सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षये'त्यादिना द्वितीयस्कन्ध उक्तः पुरुषावतारदेहरूपो ब्रह्माण्डदेह उच्यते । न च पुरुषशब्देनात्मोच्यते, न देह इति वाच्यम् । 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यनेन पुरुषावतारदेहस्यैवागतत्वात् । न ह्यात्माऽन्नरसमयो भवति । अत एवैकवचनमपि । अन्यथाऽन्नात्पुरुषा इति बहुवचनमेवोक्तं स्यात् । तस्मात् पुरुषावतारदेह एवोक्त इति समञ्जसम् । अत एव महतो विरिञ्चेः पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वे सङ्गच्छेते । 'यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः । नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः' इत्यनेन द्वितीयस्कन्धे पुरुषावताराद्ब्रह्मण उत्पत्तेरुक्तत्वात् ।

अथ यद्यप्युक्तश्रुत्यर्थ उक्त एव, तदपि तथापि निःसन्देहत्वाय पूर्वोक्तार्थकः श्लोकोऽपि पठत इत्याह विज्ञानं यज्ञं तनुत इत्यादि । विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं यस्य तद्विज्ञानं, सामान्ये नपुंसकं, विशिष्टज्ञानरूपं वा, चिद्रूपत्वाद्, ईदृशः पुरुषावतारो यज्ञं ज्योतिष्टोमादिरूपं तनुते विस्तारयति । पुरुषावयवैरेव यज्ञसम्भारस्य जातत्वात् । अत एवोक्तं 'इति सम्भृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् । स्वेनैव यज्ञपुरुषं तेनैवायजमीश्वर'मिति द्वितीयस्कन्धे च । पुनः कर्माणि यज्ञातिरिक्तान्यपि तनुते विस्तारयति । सर्वकर्मणां तदङ्गेष्वेव स्थितत्वात् । विज्ञानं पुरुषं देवा इन्द्रादयो ब्रह्मज्येष्ठं ब्रह्मणश्चतुर्मुखादपि ज्येष्ठं तस्मादपि पूर्ववर्तित्वादुपासते उपासनाविषयीकुर्वन्तीत्यर्थः । ईदृशं विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद, ब्रह्मत्वेन यदि जानाति, अथ तस्माद्विराड्रूपश्च ब्रह्मणश्चेद्यदि न प्रमाद्यति, असावधानो न भवति, सर्वदा तदुपासनापरो भवतीति यावत्, तदा शरीरे देहे पाप्मनः देहाधिकरणकपापान् हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते भुङ्क्ते । अनेन श्लोकेन श्रद्धाप्रमीयमाणानुष्ठीयमानधर्मात्मकत्वमुक्तम् । द्वितीयेन

श्लोकेन विज्ञानस्य ब्रह्मत्ववेदनरूपेण धारणोक्ता, 'ब्रह्म ज्येष्ठ'मित्यनेन महत्तत्त्वरूपस्य ब्रह्मणः पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वे उक्ते। एवञ्च योऽर्थः श्रुत्या पूर्वमुक्तः, स एवाभ्यां श्लोकाभ्यामुक्तः। ननु यो देहः स आत्माधिष्ठितः, अतो विज्ञानमयदेहे आत्मा क इत्याकांक्षायामाह तस्यैष एव शारीर आत्मेति। तस्य विज्ञानमयस्यैष एव मद्बुद्धिस्थ एव शारीरः शरीरसम्बन्धी आत्मा स क इत्याकांक्षायामाह यः पूर्वस्येति। य आत्मा पूर्वस्य मनोमयस्य स एव विज्ञानमयस्यात्मेत्यर्थः।

ननु विज्ञानमयस्यापि पुरुषरूपत्वात् पुरुषस्य चात्मत्वादात्मनश्च निराकारत्वात् कथं मनोमयाकारसमर्पकत्वमित्याशङ्कायामाह तस्माद्वा एतस्मादित्यादि।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्येति।

तस्मात् पूर्वोक्तादेतस्मान्मत्प्रत्यक्षादात्मनो विज्ञानमयादन्यो भिन्नो ह्यान्तरोऽन्तस्थ आत्मा आनन्दमय आनन्दप्रचुरः। तस्य स्वरूपमाह तेनैष पूर्ण इत्यारभ्य अन्वयं पुरुषविध इत्यन्तेन। तेनानन्दमयेनैषः विज्ञानमयः पूर्णो व्याप्तः साङ्गोपाङ्गावयवो वा। आनन्दमयावयवैरेव विज्ञानमयावयवानामुत्पन्नत्वात्। तस्य प्रकारमाह स वै निश्चयेन पुरुषविध एव, पुरुषस्येव विधा प्रकारो यस्येदृशः साकार इत्यर्थः। नन्वानन्दमयस्य साकारत्वे किं प्रमाणमित्याकांक्षायामाह तस्येति। तस्यानन्दमयस्य पुरुषविधतां पुरुषप्रकारतामनु पश्चादयं मत्प्रत्यक्षो विज्ञानमयः पुरुषविधः पुरुषप्रकारः। तथा चानन्दमयस्य निराकारत्वे विज्ञानमयेऽप्याकारो न स्यादित्यन्यथानुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात्। तस्यावयवानाह तस्य प्रियमेव शिर इत्यारभ्य ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यन्तेन। तस्यानन्दमयस्य 'रसो वै स' इत्यनेनानुपदमेव रसरूपत्वेन निरूपयिष्यमाणत्वात्प्रियमेव परस्परेष्टदर्शनजन्यानन्द एव शिरः, प्रधानाङ्गं, तस्यैव पूर्वं जायमानत्वात्। मोदो हर्षस्तदनन्तरमाप्तसंयोगानन्दविशेषः, स दक्षिणो वामेतरः पक्षो बाहुः। प्रमोदः पूर्वसञ्जातसंयोगानन्दादपि प्रकृष्टो मोदो हर्ष आनन्दविशेषो यस्मिन्, यस्माद्वा संयोगानन्तरभावी विप्रयोगः उत्तरो वामः पक्षः बाहुः। विप्रयोगे संयोगानन्दादपि प्रकृष्टानन्दाधिकरणत्वं प्रकृष्टानन्दजनकत्वं च 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टा'दिति श्रुतेः, अथ च 'प्रासादे सा दिशि

दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा, पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य, हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा, सा सा सा सा जगति सकले कोयमद्वैतवादः । ' 'सङ्गमविरहवितर्के वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः, संयोगे सैवैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे' इत्यभियुक्तोक्तेः, अथ च 'संयोगो विप्रयोगेन विना न रसदायकः । कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते' इति रसशास्त्रसिद्धान्ताच्च विप्रयोगान्तर्गतसर्वाधिकरणकप्रियदर्शनजे हर्षे विप्रयोगोत्तरभाविसंयोगजे हर्षे च प्रकृष्टत्वं सिद्धमेव । अथवा, आनन्दः स्थायिभावः, प्रीत्यपरपर्यायो रतिशब्दवाच्यः, स आत्मा । आनन्दमयस्य मध्यभागः । ' मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मे 'ति श्रुतेः । अत्रात्मपदमुपलक्षणम्, प्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनामपि । ब्रह्म गणितानन्दमक्षररूपं तत्पुच्छं पश्चाद्भागः पृष्ठादिः । ' अधर्मेवत् धर्मस्ततोधर्मपथोस्य पृष्ठ' इति वचनात् । एतेन ब्रह्मणि न्यूनत्वं सूचितमानन्दमयापेक्षया, अन्याङ्गापेक्षयानुत्तमाङ्गत्वकथनात् । अथ च प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठा, आधारः । श्रुतौ ब्रह्मणोऽप्यचिन्त्यशक्तित्वेनोक्तेर्लोकगृहपादुकासिंहासनादिरूपश्चेत्यर्थः । एतेनापि गौणत्वमेव अक्षरब्रह्मणः सूचितम् । अत्रानन्दमयो यथा विज्ञानमयाकारे, विज्ञानमयो मनोमयाकारे, मनोमयः प्राणमयाकारे, प्राणमयोऽन्नरसमयाकार आकारसमर्पकत्वेन कारणमुक्तः, तथानन्दमय आकारसमर्पकत्वेन किमपि कारणं नोक्तम्, अतो ज्ञायते आनन्दमयाकारोऽकारणक एव, अकारणकत्वे कं निरुपाधित्वात्समीचीनं परमकाष्ठापन्नं ब्रह्मैव भवति, न त्वज्ञानसंवलितत्वेनासमीचीनं ब्रह्म भवति । एवं यद्यपि निर्विकारब्रह्मत्वमानन्दमयस्य सिद्धमेव, तथापि निःसन्दिग्धतया निर्विकारब्रह्मत्वबोधनायाह तदप्येष श्लोक इति । यद्यपि पूर्वोक्तरीत्यानन्दमयस्य सद्ब्रह्मत्वमुक्तमेव, तदपि तथापि सद्ब्रह्मत्वमेव बोधक एष वक्ष्यमाणः श्लोकोपि भवति । तमेव श्लोकमाह असन्नेव स भवतीति । [redacted] पुरुषः असन्नेव भवति, मिथ्याभूत एव भवति, य आनन्दमयमसदज्ञानावच्छिन्नत्वान्मिथ्याभूतमीदृशं ब्रह्म वेद जानाति; य आनन्दमयं सद् ब्रह्मास्तीति चेद्वेद जानाति, तं पुरुषं सन्तं समीचीनं ततः कारणाद्विदुः । अत्र पूर्वार्धेनासद्ब्रह्मज्ञस्य निन्दोक्ता, उत्तरार्धे सत्पदाभावेपि सामर्थ्यात् सद्ब्रह्मेत्यायातीति ज्ञेयम् । तथा च तादृशस्य सङ्गो न कर्तव्यः, एतादृशस्य सङ्गः कर्तव्य इति भावः । यद्वा, सन्तं विद्यमानं विदुः, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वात् स्वात्मा असत्यत्ववादिनोसत्त्वमेव । स्वात्मत्यागात् । यद्वा, पूर्वोक्तप्रकारेणानन्दमयस्य शुद्धब्रह्मत्वं सिद्धमेव, तथापि ' विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्या 'दित्यत्रत्यपूर्वपक्षोक्तविकारशब्दत्वोक्त्या 'द्व्यचः छन्दसी'ति सूत्रेण.द्व्यच एव छन्दसि विकार मयटः पाणिनिसूत्रेपूपलभ्यमानत्वेपि भगवन्निःश्वसितरूपब्रह्मसूत्रेणानेकाच्त्वादपि छन्दसि कश्चिन्मयडिति ज्ञापितत्वादानन्दमयशब्दो विकारार्थकमयट्प्रत्ययान्त एवेति विकारिब्रह्मतामानन्दमयस्य कश्चिद् ब्रूयात्तत्समाधानं विदधाना श्रुतिर्निन्दास्तुतिभ्यामानन्दमयस्य शुद्धब्रह्मतामाह तदप्येष श्लोको भवति । यद्यपि

पूर्वश्रुत्या शुद्धब्रह्मत्वं सिद्धमेव, तथापि निःसन्दिग्धतयाबोधनार्थमेष वक्ष्यमाणः शुद्धब्रह्मत्वप्रतिपादकः श्लोकोपि भवति वर्तत इत्यर्थः । तमेव श्लोकमाह असन्नेवेति । स पुरुषोऽसन्नेवासमीचीन एव, अथवा भक्तिमान् वा न भवति । न हि समीचीनो भक्तो वा आनन्दमयं विकारि ब्रह्म वदति । स को ? योऽसद्विकारि ब्रह्म पूर्वोक्तानन्दमयं वेद जानाति, सोऽसन्नेव भवतीत्यर्थः । य आनन्दमयं 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मे'ति वाक्याद्ब्रह्म निर्दोषं समरूपमस्तीति चेद्भगवत्कृपया वेद जानाति तं सन्तं भक्तं शुकादितुल्यं ततः शुद्धब्रह्माङ्गीकर्तृत्वरूपकारणाद्विदुः श्रुतयो भक्ता वेत्यर्थः । अनेन श्रुत्यैवानन्दमयस्य विकारित्वे निरस्ते मयट्प्रत्ययोत्र न विकारे इति सिद्धम् । तर्हि मयट्प्रत्ययः कस्मिन्नर्थे इत्याकांक्षायां प्राचुर्ये मयडत्रेति भगवानाह 'विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्या'दिति स्वनिःश्वसितरूपसूत्रेण । ननु यो देहः स आत्माधिष्ठित इत्यत्रात्मा क इति आकांक्षायामाह तस्यैष एव शारीर आत्मेति । तस्यानन्दमयात्मनः शारीरः शरीरसम्बन्धी शरीराभिमानीति यावत्, स एष मत्प्रत्यक्षः । ननु स क इत्याकांक्षायामाह यः पूर्वस्येति । य आत्मा पूर्वस्य विज्ञानमयस्य स एवानन्दमयस्याप्यात्मेत्यर्थः । अत्र सर्वान्ते आनन्दमय एवोक्तः, न त्वानन्दमयादग्रे कश्चनोक्त इत्यानन्दमय एवानन्दमयस्यात्मा, अथ चान्नमयादेरपि, परन्तु तत्रान्नमयादिरूपेण देहता, आनन्दमयरूपेणात्मता, अत्र त्वानन्दमयरूपेणैव देहता, आनन्दमयरूपेणैव चात्मतेति तात्पर्यम् । अत एव 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रहश्चात्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः, आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मे'त्यादिना पुराणतन्त्रादिषु चानन्दरूपधर्मिणो धर्माणां चानन्दरूपत्वमेवोक्तमिति बोध्यम् ।

न च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्रोक्तब्रह्मण एव सर्वात्मत्वमिति वाच्यम् । पुच्छरूपावयवत्वेन धर्मित्वाभावात् सर्वात्मत्वाभावात् । तस्मादस्मदुक्तव्याख्यानमेव साधीयः ।

अत्र मायावाद्याचार्याः स्वकृतवेदान्तसूत्रभाष्ये त्वानन्दमयाधिकरणव्याख्याने ह्यानन्दमयशब्दस्थमयटो भगवन्निःश्वसितरूपविकारशब्दादिति सूत्रोक्तप्राचुर्यार्थकत्वमेकदेशिमतत्वेन योजितवन्तः ।

तन्न । तत्रैतस्यैकदेशिमतत्वे तन्नाम गृहीतं स्यात्, यथा 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः,' 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्न' इत्यादिब्रह्मसूत्रेष्विव, अथवा इत्येकदेशिन इति वा वदेयुः सूत्रकाराः । तस्मान्नैकदेशिमतमिदमिति ।

स्वसिद्धान्तं वदन्त 'इदं त्विह वक्तव्यम् । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' 'तस्माद्वा एतस्मादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः' 'तस्मादन्योन्तर आत्मा मनोमयः' 'तस्मादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमय' इति च विकारेर्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमये एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेन्न । न । अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्ग' इति वदन्ति ।

तत्र । वेदो हि भगवन्निःश्वसितभूतः । तदर्थश्च भगवदुक्त एव प्रामाणिकः, स्वाभिप्रायस्य स्वेनैव ज्ञायमानत्वात् । अत एवोक्तं ' किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चने'त्येकादशस्कन्धे भगवता । स स्वाभिप्रायस्तु भगवतैव स्वनिःश्वसितरूप ' विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्या'दिति सूत्रेण प्रकटित एव । एवं च सति तदभिप्रायविरुद्धा मायावाद्याचार्योक्ता श्रुत्यभिप्रायसरणिः कस्यास्तिकस्य प्रेक्षावत आदरणीयतामुपेयात् ।

अथवा, अन्नरसमयादिषु विकारे मयडपि नास्ति येन तत्प्रवाहपतितानन्दमयशब्दस्थोपि मयट् विकारार्थतामवलम्बेत, किन्तु सर्वत्र प्राचुर्य एव मयडिति भगवदभिप्रायः । न चात्र किं प्रमाणमिति वाच्यम् । ' विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्या'दिति भगवन्निःश्वसितरूपसूत्रस्यैव प्रमाणत्वात् । न ह्यनेन सूत्रेणानन्दमयशब्दस्थमयट एव प्राचुर्यार्थकत्वमुच्यते, किन्त्वन्नरसमयाद्यानन्दमयान्तशब्दस्थसर्वमयटामपि । सङ्कोचे प्रमाणाभावात् । अपरञ्च, ' विकारशब्दादिति चे'दिति सूत्रभागेन पूर्वत्रान्नमयादिषु यथा विकारे मयट्, तथानन्दमयेपि विकारे मयडित्यन्नमयादारभ्यानन्दमयान्तं विकारे मयटं पूर्वपक्षत्वेनानूद्य 'नेती'त्यनेनेमं पक्षं निषिध्य ' प्राचुर्या'दिति सामान्यत एव समाधानमुक्तं सर्वमयड्विषयकत्वेन । आनन्दमयशब्दस्थमयडर्थमात्रविषयकत्वे 'विकारशब्दादिति चेन्नात्र प्राचुर्या'दित्येव सूत्रितं स्यात् । न च 'आनन्दमयोऽभ्यासा'दित्यानन्दमयप्रकरणादन्नशब्दानुक्तिः । एवमप्यन्नरसमयादिस्थमयड्विकार इत्यस्यार्थस्यानागमनात् विज्ञानमयान्तं मयड्विकार इत्यत्र प्रमाणाभावात् ।

अथ चान्नरसमयादीनामपि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः इत्युक्तम् । तत्तु 'स एतावानासे'त्यादिश्रुतेरिष्टापत्तिग्रस्तम् । न च तर्ह्यानन्दमय एव को विशेषः । 'स एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छ'दित्यादिश्रुतेः क्रीडार्थमेव सर्वरूपेण प्राकट्यं भगवतः । सा क्रीडा तु तारतम्याभावे रसालतां नापयत इत्यन्नरसमयादिषु केवलसत्त्वक्रियाशक्तिप्रधानसत्त्वक्रियाज्ञानोभयविशिष्टसत्त्वविशिष्टज्ञानक्रियाशक्तिविशिष्टसत्त्वरूपेण सच्चिदानन्दरूपेण पूर्णफलरूपसच्चिदानन्दरूपेण चानन्दमयस्य आविर्भावविशेषात् । तस्मादन्नरसमयादीनामपि ब्रह्मत्वेऽस्माकं न कापि हानिः ।

यदपि पुनस्तत्रैव तैरुक्तं 'अत्राह युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वाद्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गा'दिति पूर्वपक्षीकृत्य, 'अत्रोच्यते । यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योन्तर आत्मेति न श्रूयते, तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम् । यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते 'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति । तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति तदिह 'पुच्छं प्रतिष्ठे'त्युच्यते, तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयान्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते, तत्र कुतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रि-

याप्रसङ्ग' इति । नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव, 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यादि, तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम् । प्रकृतत्वादिति ब्रूम' इति ।

तदपि न । प्रियादीनामवयवत्वं कल्पितमिति श्रुत्योच्यते, स्वतो वा । नाद्यः । तादृशश्रुतेः प्रचरद्रूपैकादशशाखास्वनुपलभ्यमानत्वात् । उत्सन्नशाखाश्रुतिषु तु कल्पितत्वभ्रमस्य जागरूकत्वात् । न च श्रुतयोपि कल्प्यन्त इत्यत्र किं प्रमाणम् । 'वर्णानां द्वापरे ध्वंसः सङ्कीर्यन्ते तथा प्रजाः । द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिन् श्रुतौ स्मृतौ । द्विधा श्रुतिः स्मृतिश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते । अनिश्चयाधिगमनाद्धर्मतत्त्वं न विद्यते । धर्मतत्त्वे ह्यविज्ञाते मतिभेदश्च जायत' इत्यारभ्य ' कृच्छ्रादर्थः प्रसिध्यती'त्यन्तेन पूर्वोक्तमुक्त्वा ' द्वापरे सर्वभूतानां कायाः क्लेशपुरस्कृताः । लोभान्नृभिर्वागपुच्छं तत्त्वानामविनिश्चयः । वेदशास्त्रप्रणयनं धर्माणां सङ्करस्तथा । दुरदृष्टैर्दुरधीतैर्दुराचारैर्दुरागमैः । विप्राणां कर्मदोषैश्च प्रजानां जायते भ्रम' इति मत्स्यपुराणीयमन्वन्तरकल्पीयश्रीमत्स्योक्तप्रघट्टकस्थलोभजनितवेदशास्त्रप्रणयनोक्तेरेव प्रमाणत्वात् । न च तर्ह्युत्सन्नशाखास्थेयं श्रुतिः कल्पिता नेयं कल्पितेति कथं ज्ञेयमिति वाच्यम् । प्रचरद्रूपैकादशशाखाश्रुतीतिहासपुराणगीतैकादशस्कन्धस्थसाक्षाद्भगवदुक्तिसंवादित्वासंवादित्वाभ्यां कल्पितत्वाकल्पितत्वयोर्ज्ञायमानत्वात् । नान्त्यः । स्वतःकृतकल्पनाया निःश्वसितमूलकत्वाभावेनाप्रमाणत्वात् । तस्मात् प्रियशिरस्त्वाद्यवयवा ब्रह्मणि पारमार्थिका एव, न कल्पिता इति सारम् ।

अथावयवत्वेनोक्तेरप्रधानत्वेन प्रतीयमानस्यापि ' ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्रोक्तब्रह्मण एव प्रधानत्वं प्रकृतत्वादिति यदुक्तं, तदपि न । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र सर्वकामभोगरूपप्राप्तिविशिष्टं 'ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र विपश्चिद्ब्रह्मत्वेनोक्तं परब्रह्म फलम्, साधनशेषब्रह्म तु ज्ञानद्वारा तत्प्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन कारणम्, साक्षात्कारणं तु तादृशयोग्यतावति भगवत्कृपया परभक्तिप्रादुर्भावः । एवं च साक्षादिष्टतमत्वात् परमेव प्रधानं, पुच्छत्वेनोक्तं ब्रह्म तु स्वज्ञानद्वारा तत्र योग्यतामात्रसम्पादकत्वेनापेक्षितत्वादप्रधानम् । एवञ्च, ' गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय ' इति न्यायात् परमेव प्रकृतं मुख्यतयेति न पुच्छत्वेनोक्तं ब्रह्म मुख्यतया प्रकृतम् । अत एव यथा पुच्छत्वेनोक्तं ब्रह्मोपक्रमे गौणतयैव निर्दिष्टं, तथैवोपसंहारेऽपि पुच्छत्वेन निर्दिष्टं गौणत्वज्ञापनायैवेति दिक् ।

अथवानन्दमयस्य युक्तिभिरप्रधानब्रह्मत्वस्थापनपूर्वं यत् पुच्छब्रह्मण एव प्रधानत्वमुक्तं मायावाद्याचार्यैस्तत्किं व्यासाभिप्रायेण स्वातन्त्र्येण वेति पृच्छामः । तत्र नाद्यः । 'ब्रह्म पुच्छ'मित्यत्रोक्तं ब्रह्मैव प्रधानत्वेन यदि व्यासाभिमतं स्यात्, अथवानन्दमयमशुद्धत्वादप्रधानत्वेनाभिमतं च स्यात्, तदानन्दमयाधिकरणं विरचितमेव न स्यात्, विकारार्थकमयट्प्रत्ययान्तत्वेनानन्दमयशब्दे शुद्धब्रह्मवाचकत्वसन्देहाभावात्, 'सन्देहे'ति न्यायेन प्रवृत्तिरिति सिद्धान्तविरचनेपि नानन्दमयो विकारार्थप्रत्ययान्तशब्दादित्येव कृतं स्यात् । आनन्दमये

प्रधानब्रह्मत्वस्यैव निषेध्यत्वात् । न च पुच्छत्वेनोक्ते ब्रह्मणि (अ?) प्रधानब्रह्मसन्देहनिराकरणार्थमिदमधिकरणमिति वाच्यम् । तदा 'ब्रह्म प्रधानमभ्यासा'दित्येव सूत्रितं स्यात्, 'न त्वानन्दमयोऽभ्यासा'दिति । न द्वितीयः । स्वातन्त्र्येण कृतस्य वेदव्याख्यानस्य 'शङ्करः शङ्करः स्या'दित्यादि वचनैः शङ्करस्य शङ्करत्वात् । 'त्वं च रुद्र महाबाहो' इत्यादिवचनोक्तव्यामोहैकप्रयोजनत्वात् । भगवज्ज्ञानकलावतारस्य श्रीमतो व्यासस्य वेदपुराणविभागकरणवेदार्थविचारेतिहासकरणार्थमेवावताराच्चदुक्तवेदार्थस्य व्यामोहनार्थत्वाभावात् व्यामोहकशास्त्रकरणार्थं व्यासावतार इति कुत्रापि पुराणादिषु प्रतिपादितत्वाभावाच्चेति सर्वं भव्यम् ।

यत्पुनस्तैरुक्तं 'नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्मणि विज्ञायमाने प्रकृतत्वं हीयते । आनन्दमयस्यापि ब्रह्मत्वा'दिति पूर्वपक्षीकृत्य, 'अत्रोच्यते, तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात् । अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुम् । ब्रह्मशब्दसंयोगात् । नानन्दमयवाक्ये, ब्रह्मशब्दसंयोगाभावा'दिति ।

तदपि न । यथा मृत्तिकापिण्डस्यैकत्वेपि प्रचुरमृत्तिकामयो घटोऽवयवी, स्वल्पमृत्तिकामयी कन्धाकारग्रीवावयवो, यथा च सुवर्णस्यैकत्वेपि प्रचुरसुवर्णमय्यश्वप्रतिकृतिरवयवी, स्वल्पसुवर्णमयी पुच्छप्रकृतिरवयवः, तथा तदेवानन्दमयप्रचुरानन्दरूपेणावयवी, स्वल्पानन्दाक्षररूपेणावयव इत्यसामञ्जस्याभावात् । किञ्च, ब्रह्मशब्दसंयोगात् ब्रह्मनिर्देशो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्रैवाश्रयितुं शक्यत इत्युक्तं, तदपि न । यतो ब्रह्मनिर्देशो नाम ब्रह्मत्वमात्रकथनमुत प्रधानब्रह्मत्वेन । तत्र ब्रह्मत्वाश्रयणेऽस्माकं न क्षतिः । प्रधानब्रह्मत्वं तु नाश्रयितुं शक्यते । अन्नरसमयमारभ्य विज्ञानमयान्तं पुच्छत्वेनोक्तानां सर्वेषामेव यदि प्राधान्यमाश्रितं भवेत्, तदात्रापि पुच्छप्राधान्यमाश्रीयेत । तथा तु नाश्रितम् । अतोऽत्रैवाकस्मात्तथाश्रयणे भवदुक्तार्धजरतीयन्यायविरोधः । तस्मान्मयडन्तप्राधान्यनिरूपकप्रकरणे आनन्दमयस्यापि मयडन्तत्वात् प्राधान्यं न पुच्छब्रह्मण इति ज्ञेयम् ।

यदपि तैरुक्तम् 'अपि च, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्युक्त्वेदमुच्यते 'तदप्येष श्लोको भवति, असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदु'रिति । अस्मिन् श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं, भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता । प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वा'दिति ।

तदपि न । अन्नरसमयमारभ्य विज्ञानमयान्तमुक्तानां श्लोकानां तत्तन्मयडन्तस्तावकत्वेनोक्तत्वादत्रापि मयडन्तानन्दमयस्तावकत्वमेव 'असन्नेव स भवती'ति श्लोकस्यापि वक्तुं योग्यत्वात् । न चानन्दमयो ब्रह्मशब्दवाच्यो न भवतीति कथमस्मिन् श्लोके ब्रह्मशब्देन वक्तुं शक्यत इति वाच्यम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रोक्तपरविवरणतयोच्यमानब्रह्मणा विपश्चिते-

त्यत्र ब्रह्मणेति पदेनोक्तानन्दमये ब्रह्मशब्दवाच्यत्वस्य डिण्डिमवादितत्वात् । उक्तरीत्यास्य श्लोकस्य मयडन्तस्तावकत्वे सत्येतच्छ्लोकस्थब्रह्मपदेन मयडन्तस्यैवोक्तावेतच्छ्लोकरूपश्रुतेरपि मयडन्तस्य ब्रह्मपदवाच्यत्वे प्रमाणत्वाच्च । अथ प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वाद्भावाभावशङ्का न युक्तेत्युक्तम् । तत्राक्षरब्रह्मणोपि वेदप्रसिद्धत्वात्तत्रापि भावशङ्काया अयुक्तत्वमित्यस्माभिरपि वक्तव्यत्वात् । किञ्च, ब्रह्मविषयकभावाभाववेदनजगुणदोषप्रबोधनार्थं हि श्लोकोयं स किं नास्तिकं प्रत्युच्यते, अथवास्तिकं प्रति । तत्र नाद्यः । नास्तिकस्य त्वेतादृशवचनसहस्रेष्युक्ते ब्रह्मविषयकभावाभावगुणदोषयोर्मनस्यनागमनात् । नान्त्यः । आस्तिकस्यापि वेदोक्तत्वेन ब्रह्मणो निश्चयात् भावाभावज्ञानासम्भवात् । न च श्रुतिप्रसिद्धेपि ब्रह्मणि नास्तिकयुक्तिश्रवणजन्यविपरीतमतेः पुरुषस्य ब्रह्मविषयकभावसन्देहः स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमयं श्लोक इति वाच्यम् । तर्हि प्रियमोदप्रमोदादीनां लोकप्रसिद्धेप्यानन्दमये नास्तिकयुक्तिश्रवणजन्यविपरीतमतेः पुरुषस्यानन्दमयब्रह्मविषयकभावाभावसन्देहनिवृत्त्यर्थमेवायं श्लोक इति अस्माभिरपि वक्तुं शक्यत्वात् । किञ्च, प्रियमोदादीनां लोकप्रसिद्धत्वेप्येतदवयवविशिष्टात्मरूपावयवी न प्रसिद्ध इति तादृशावयविविषयकसन्देहनिवृत्त्यर्थमयं श्लोक इत्यपि वक्तुं शक्यते प्रतिवादिनं प्रतीति न किञ्चिदेतत् । वस्तुतस्तु यथास्य श्लोकस्यार्थस्तमवोचामैव । श्रीमदस्मदाचार्यचरणास्तु 'सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र सहशब्दयोगादत्राप्रधानतृतीयोक्ता । एवं च भोगकरणे परब्रह्माप्रधानमित्यागतम् । तत्र भक्तिसिद्धान्तानभिज्ञस्य कस्यचिदेतादृशपरब्रह्मविषयकभावाभावशङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमयं श्लोक इत्याहुः ।

यदपि पुनस्तैरुक्तं 'कथं पुनः स्वप्रधानं सद् ब्रह्मानन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते, ' ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति' इति पूर्वपक्षीकृत्य, 'नैष दोषः, पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, तेन नावयवत्वम्, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुत्यन्तरादिति ।

तदपि न । पुच्छवत्पुच्छमिति हि लाक्षणिकोर्थः । सा लक्षणा तु मुख्यार्थबाधे भवति । न चात्र मुख्यार्थबाधः । हंसावतारे श्रीमद्वाराहाद्यवतारे चाक्षरब्रह्मणः पुच्छत्वस्य सम्भवात् । अत एवोक्तं श्रीमदस्मदाचार्यचरणैर्भागवततत्त्वदीपे सर्वनिर्णयप्रकरणे ' हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मन ' इति । अथ लौकिकानन्दजातस्य ब्रह्मप्रतिष्ठापरायणमेकनीडमित्येवं या विवक्षा, सापि न साधुतरा । अलौकिकब्रह्मरूपानन्दमयनिरूपणप्रकरणं ह्येतत् । एवं च ब्रह्मरूपानन्दमयस्यैवायमाधार इति युक्तम् । न चानन्दमयस्य ब्रह्माधारत्वे ब्रह्मण एव प्राधान्यमायातीति वाच्यम् । ' धाम देहे गृहे रश्मा'विति कोषाद्धामशब्दस्य देहगृहरश्मिरूपाश्चत्वारोर्थाः । एवञ्च, देहगृहरश्मिरूपत्वे ब्रह्मणो न प्राधान्यमायाति । देहगृहरश्मिषु देहिगृहिरश्मिवतामेव प्रधानत्वस्य दृश्यमानत्वात् ।

यदपि तैरुक्तम्, 'अपि चानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्, निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसागोचरत्वाभिधानात्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चने'ति।

तदपि न। ब्रह्म सविशेषं निर्विशेषं वा न लौकिकप्रमाणगम्यम्, किन्तु श्रुत्यैकसमधिगम्यम्। श्रुतिश्चातिप्रमाणतया। भगवन्निःश्वसितत्वात्। तदुक्तास्थूलादिवाक्यैर्यथा ब्रह्मणि निर्विशेषत्वमङ्गीकर्तव्यम्, तथा तदुक्तं 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पा' दित्यादिवाक्यैः सविशेषत्वमप्यङ्गीकर्तव्यमेव। न च विरोधः। लोकविलक्षणब्रह्मणि विरोधाभावात्। अत एव 'नैषा तर्केण मतिरापनेये' त्यादिश्रुतिः। अत्राधिको विचारस्त्वस्मदाचार्यतनुजरत्नकृतविद्वन्मण्डनाख्यग्रन्थे द्रष्टव्यः, विस्तरभिया नेह तन्यते। न च 'यतो वाच' इत्यस्याः श्रुतेः का गतिः। अस्या हि श्रुतावबाङ्मनसगोचरत्वं यथोच्यते, तथानन्दं ब्रह्मणो विद्वानिति वाङ्मनोगोचरत्वमप्युच्यते। एवं च वाङ्मनसागोचरत्वं तद्गोचरत्वं च प्रकारभेदेन वक्तव्यम्। स प्रकारस्तु जीवेच्छया वाङ्मनोगोचरो न भवति, स्वेच्छया तु वाङ्मनसगोचरो भवतीत्यादिरेवेति न काप्यनुपपत्तिः।

यदपि तैरुक्तं 'अपि चानन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते, प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्। तथा च 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत। प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दस्य भिन्नत्वम्। ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे' त्यानन्त्यश्रुतेः। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मेति च श्रुत्यन्तरा'दिति।

तदपि न। अग्रे 'रसो वै स' इत्यनेनानन्दमयस्य रसरूपत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् रसस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विविधत्वात् विप्रयोगस्य च दुःखात्मकत्वात् दुःखसम्भेदश्चानन्दमये श्रुत्यैव प्रतिपाद्यत इति नास्माकं तत्र भवद्वचनावकाशः। न च जीवतुल्यतापत्तिः। कर्मजन्यदुःख एव जीवतुल्यतापत्तेः। अत्र तु दुःखं स्वरूपभूतमेवेति जानीहि। न च रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके 'रसमेवायं हि लब्ध्वानन्दी' सुखी भवति हि तत्रार्थः करिष्यत इति वाच्यम्। सम्भवति शक्यार्थस्य लाक्षणिकार्थस्यान्याय्यत्वात्। न च तर्हि रसशब्देन सामान्यत उक्तेः 'सर्वरस'इति श्रुत्यन्तराद्याम्लादिरसरूपताप्यानन्दमयस्य स्यादिति वाच्यम्। ब्रह्मत्वात्सर्वरूपतायां शृङ्गारादिरसस्यापि सर्वमध्ये प्रतिष्ठत्वात् शृङ्गाररसरूपताया अपि सिद्धत्वात्, परन्त्वेतावान् विशेषो यदम्लादिरसरूपोऽक्षरब्रह्मरूपजगद्रूपेण, पुरुषोत्तमरूपेण तु शृङ्गारादिरसरूप एव। अथ 'नान्यत् पश्यती'त्यादिश्रुतिरुपरुध्येतेति यदुक्तं, तत्र 'नान्यत्पश्यती'त्यादिश्रुतिस्तु स्वरूपतदन्तर्गतधर्मान्यधर्मदर्शनश्रवणज्ञानान्येव निषेधति, न स्वरूपान्तर्गतधर्मदर्शनश्रवणज्ञानान्यपीति न सा श्रुतिरुपरुध्यते।

कश्चि'त्त्वन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यतां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहे'त्यनेन महानारायणोपनिषदुक्तविरजाहोमीयमन्त्रेण स्वानन्दमयस्य शुद्धिकथनादशुद्धत्वनिश्चयेन न शुद्धब्रह्मत्वम्, किन्त्वशुद्धब्रह्मत्वमेवेति दूषणान्तरमाह।

तत्रापि ब्रूमः। यथा 'द्रुपदादि च मुञ्चन्तु द्रुपदादि चेन्मुमुञ्चान' इति मन्त्रे 'आपः शुध्यन्तु मैनस' इत्यत्र शुध्यन्तुपदस्य शोधयन्त्वित्यन्तर्भूतणिजर्थत्वम्। एवमेव 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मे'ति मन्त्रे 'गायत्रीं छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व मे' इत्यत्र च जुषस्व जोषयस्वेत्यन्तर्भूतणिजर्थत्वमेव वेदभाष्ये सन्ध्याभाष्ये चोक्तम्। अन्यथा प्रथममन्त्रे मामिति पदस्यानन्वितत्वापत्तेः। द्वितीयमन्त्रेऽर्थस्यासङ्गतत्वापत्तेश्च। एवमेवात्राप्यन्नमयादिभ्यो देवताभ्यः 'इदं न ममे'ति त्यागस्य क्रियमाणत्वादन्नमयादीनां हविर्भागिदेवतात्वे सिद्धे शोधकत्वस्य सिद्धेः शोध्यत्वस्यासम्भवाच्छुध्यन्तामित्यस्य शोधयन्तामित्यन्तर्भूतणिजर्थत्वमेव सिध्यति। न चात्र णिजर्थं प्रति किं कर्मेति वाच्यम्। सन्निहितो ज्ञानप्रतिबन्धकरजोगुणविशिष्टः पापविशिष्टोऽग्रे वक्ष्यमाणैतद्वाक्योक्ताहंपदोक्तात्मशब्दवाच्यपदार्थः, तस्यैव कर्मत्वात्। यद्वा, 'व्यत्ययो बहुल'मिति सूत्रा'न्मे' इति द्वितीयास्थाने षष्ठी, 'गायत्रीं छन्दसां मातेदं ब्रह्मे'त्यत्र गायत्रीशब्दात् प्रथमार्थे द्वितीयैव। तथा च पूर्वव्याख्याने 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दित्यादिनान्नमयादीनां तपःसाधनोत्तरं ब्रह्मत्वेनानुभवस्य भृगोर्भृगुवल्ल्यामुक्तत्वाद्ब्रह्मरूपा मे मत्सम्बन्धिनो मयि स्थिता इति यावदीदृशा अन्नमयादयः, अग्रेवाच्यरजोविशिष्टपापविशिष्टात्मस्वरूपं कर्मीभूतं शुध्यन्तां शोधयन्तामित्यर्थः। द्वितीयव्याख्याने मे मामन्नमयादयः शोधयन्तामित्येवार्थः। एवञ्च क्वानन्दमयस्याशुद्धत्वशङ्कापीति निपुणतरं निभालय। त्वत्सम्मतव्याख्याने तु शोध्येष्वन्नमयाद्यानन्दमयान्तेषु स्वस्यैव शुद्धिसम्पादकत्वप्रतीतेरर्थविरोधः स्पष्ट एव। शुद्धिकर्मशुद्धिकर्त्रोरभेदस्य लोके शास्त्रे वा दृश्यमानत्वाभावात्। न चान्नमयाद्यधिष्ठातृदेवताः शोधिकाः, शोध्यास्त्वानन्दमयान्ता इति वाच्यम्। हविर्दानोद्देश्यकदेवतावाचकान्नमयादिपदानां मन्त्रेऽनुपलभ्यमानत्वात् हविर्दानोद्देश्यकदेवतावाचकपदविशिष्टानामेव सर्वमन्त्राणां यज्ञादिषु दृश्यमानत्वात्। यदि चान्नमयाद्यानन्दमयान्तपदानि देवतावाचकान्येवेत्युच्यते, तदा शुध्यन्तामिति पदस्य शोध्यशोधकयोरभेदस्य दृश्यमानत्वाभावेन णिजर्थान्तरभावं विनार्थो न वक्तुं शक्यत इत्यस्मदुक्त एवार्थस्त्वयाप्यङ्गीकृत इति जितमस्माभिः। न च वह्निरेवात्र देवतेति वाच्यम्। मन्त्रे तद्वाचकपदाभावात्। अन्नमयादिभ्यो देवताभ्य 'इदं न ममे'ति त्यागस्यैव सकलवैदिकशिष्टैः क्रियमाणत्वाचेत्यलं पलायितानुसरणप्रयासेन।

अथ प्रियादिभेदादानन्दस्य प्रतिशरीरं भिन्नत्वे, ब्रह्म तु प्रतिशरीरं न भिद्यते, सत्यज्ञानानन्त्यश्रुतेः, 'एको देव' इति श्रुत्यन्तराचेत्युक्तम्।

तदपि न। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति महानारायणोपनिषच्छ्रुत्या ब्रह्मणोनन्तरूपत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वस्यापि श्रुत्युक्तत्वात्। 'सत्यं

ज्ञानमनन्तमित्यत्राप्यनन्तपदं देशतः कालतो धर्मतः स्वरूपतश्चानन्तत्वमेव ब्रूते । सङ्कोचे प्रमाणाभावात् ।

यदपि तैरुक्तं 'न चानन्दमयाभ्यासः श्रूयते, प्रातिपदिकमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते । 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, सैषानन्दस्य मीमांसा भवति, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना'दिति । यदि चानन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तदा तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत । न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिहेतुभिरित्यवोचाम । तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शना'द्यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दित्यादिर्ब्रह्मविषयप्रयोगः, न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्य'मिति ।

तदपि न । परविवरणतयोक्त'सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति प्रतिपादितविपश्चिद्ब्रह्मत्वस्यानन्दप्रचुरत्वेन परमकाष्ठापन्नफलरूपस्य प्रियशिरस्त्वादीनां कल्पितत्वे प्रमाणाभावान्नित्यसिद्धप्रियशिरस्त्वादिधर्मविशिष्टस्य परमफलताबोधनार्थमेव प्राचुर्यार्थकमयट्प्रत्ययान्ततया निर्दिष्टस्यात एव प्रधानभूतस्य पश्चात्प्रयोजनाभावात् केवलप्रातिपदिकमात्रेणैवाभ्यस्तस्यैतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्येत्यनेनोपसंक्रमणे प्रचुरानन्दत्वज्ञापनार्थं पुनरपि मयडन्ततयैवोपसंहारे कथितस्यानन्दमयस्यैवाभ्यासो 'यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दित्यादिषु, न तु ब्रह्मविषयकः प्रयोग इति सिद्धम् । एवञ्च, ब्रह्मणा विपश्चितेत्युक्तब्रह्मत्वस्यानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयत एवेति तैरुक्तं बाधितमेव । न हि सर्वत्राभ्यासे तेनैव शब्देनाभ्यास इति नियमः, किन्तु तद्वाचकशब्दैरेवाभ्यासः कर्तव्य इति सिद्धान्तात् । न चानन्दमयो नानन्दो येन प्रातिपदिकाभ्यासस्य तदभ्यासत्वाभाव उच्येतेति दिक् ।

अथवाभ्यासो हि द्विविधः । शब्दतोऽर्थतश्च । तत्रानन्दमयशब्दतोभ्यासाभावेपि ' रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ' ' यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ' ' एष ह्येवानन्दयाति ' 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' ' आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती'त्यर्थतोभ्यासस्य विद्यमानत्वात् पुनः पुनः कथनरूपोर्थतोभ्यासोस्त्येव । न ह्यर्थतोभ्यासो नाभ्यासः, किन्तु शब्दत एवाभ्यासोभ्यास इत्यत्र नियामकं किञ्चिच्छ्रुत्यादिकमस्ति ? किञ्च, श्रीमद्व्यासचरणानामभिमतोप्यर्थाभ्यास एवात्र । यत आनन्दमयशब्दस्य पुनः पुनः कथनरूपाभ्यासमानन्दवल्ल्यां भृगुवल्ल्यां चापश्यन्तोपि श्रीमद्व्यासचरणा य'दानन्दमयोभ्यासा'दिति सूत्रं कृतवन्तस्तच्चार्थाभ्यासाभिप्रायेणेवेति स्फुटतरमेव । इदमेवाभिसन्धाय श्रीमदस्मदाचार्यैरिदमधिकरणं व्याचक्षाणैः 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयातीत्यानन्दयतीत्यर्थ इत्यर्थतोऽभ्यास' इत्युक्तम् । अत्रेदं ज्ञेयम् । आनन्दमयशब्दार्थो ह्यानन्दविशेषणकप्राचुर्यविशेष्यको न भवति । आनन्दप्राचुर्यस्य प्रधानाप्रधानब्रह्मत्वाभावात् । आनन्दस्यैव ब्रह्मत्वात् । न चानन्देन प्रचुर आनन्दमय इति प्रचुरविशेष्यकोपि । व्याकरणानभिमतत्वात्

प्राचुर्यार्थकमयटः प्रथमान्तादेव सुबन्ताद्विधानाच, किन्तु प्राचुर्येण प्रकृतानन्दस्तादृगानन्दो वा यस्मिन्निति वानन्दविशेष्यकस्तद्विशेष्यको वानन्दमयशब्दस्यार्थः। 'तत् प्रकृतवचने मय'डिति सूत्रशब्दस्य वचनशब्दस्य भावार्थकाधिकरणार्थकल्युडन्तत्वमङ्गीकृत्य प्रकृतमन्नमयं प्रकृतमन्नं यस्मिन् सोऽन्नमयो यज्ञ इत्युदाहरणद्वयं प्रदर्श्य उभयथापि सूत्रव्याख्यानस्य महाभाष्यकारैः कृतत्वात्। एवं च प्रचुरानन्दस्य तादृगानन्दाधिकरणस्य चानन्दत्वमेवेत्यानन्दीभवतीत्यादिनानन्दमयशब्दार्थ एवाभ्यस्त इति सुष्ठूक्तं श्रीमदस्मदाचार्यचरणैरर्थतोऽभ्यास इति। नन्वधिकरणार्थकल्युडन्तत्वपक्षेऽधिकरणस्यानन्दत्वाभाव आयातीति चेत्? न। ब्रह्मवादे धर्मधर्मिणोरभेदादधिकरणस्याप्यानन्दत्वात्। वस्तुतस्तु 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यादिश्रुतिभिर्धर्मिरूपानन्दरूपत्वं धर्मरूपानन्दत्वं च स्पष्टमेवोक्तमिति न कस्याप्युक्तेरवकाशः। एवं च श्रीमतां व्यासचरणानां सिद्धान्तस्य सामञ्जस्ये सिद्धे मायावाद्याचार्यकृतं लक्षणावृत्त्याश्रयणपूर्वकमत्याग्रहेणानन्दमयाधिकरणस्य व्याख्यानं लोकव्यामोहनार्थमेवेति विभावनीयं निर्मत्सरैरन्तर्वाणिभिरिति सर्वं चतुरस्रम्।

यदपि तैरुक्तं 'यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती'ति पूर्वपक्षीकृत्य, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति। विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रामयितव्यानां प्रवाहे पतितत्वा'दिति।

तदपि न। अन्नमयादिषु विकारे मयडिति पक्षस्य सर्वत्रात्र प्राचुर्यार्थक एव मयडिति वदद्भिरस्माभिर्निरस्तत्वात्।

यदपि तैरुक्तं 'नन्वानन्दमयस्योक्तोपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेदिति पूर्वपक्षीकृत्य, नैष दोषः, आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेर्निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति, यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'त्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वादिति।

तदपि न। आनन्दमयोपसंक्रमणे पुच्छाधारभूतब्रह्मोपसंक्रमो भवन्नपि स उपक्रमो ब्रह्मणो गौणत्वपुरस्कारेणानन्दमयस्य च प्रधानत्वपुरस्कारेणैव। ब्रह्मणः पुच्छरूपाङ्गत्वादाधारत्वाच्च। यस्माच्च तदन्तर्गततयैव ब्रह्मप्राप्तिरत एवानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामत्यानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्येत्येतावदेवोक्तम्। प्रधानप्राप्तौ गौणप्राप्तेर्जायमानत्वात्। राजप्राप्तौ तदन्तर्वर्तिसेवकतद्गृहादिप्राप्तिरिव। 'यतो वाच' इत्यत्रापि 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'नित्यनेन सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणोपि यत् आनन्दं आनन्दरूपत्वेनाकांक्ष्यं तद्विद्वान् कुतश्चन न बिभेतीत्यर्थस्य प्रतीयमानत्वेन ब्रह्मणोऽप्राधान्यमेव। यदि ब्रह्मपात्रविद्वत्त्वमेव भयाभावे कारणत्वेन प्रतिपिपादयिषितं स्यात्, तदा 'आनन्दं ब्रह्म विद्वा' नित्येवोच्येत श्रुत्या, तस्मात् ब्रह्मानन्दादपि भिन्न आनन्दः प्रतिपिपादयिषित इति षष्ठ्या निर्देशो ब्रह्मण इति।

यदप्युक्तं तैः 'या त्वानन्दमयसन्निधाने 'सोकामयत बहु स्याम् प्रजायेये'तीयं श्रुति-

रुदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यनेन सन्निहिततरेण ब्रह्मणा सम्बध्यमानानन्दमयस्य ब्रह्मतां बोधयति । तदपेक्षत्वाच्चोत्तरग्रन्थस्य 'रसो वै स' इत्यादेरानन्दमयविषयतेति । ननु 'सोकामयते'ति पुल्लिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते ! नायं दोषः । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यत्र पुल्लिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् ।

तदपि न । 'सोकामयते'त्यत्र हि तच्छन्दः, स तूत्सर्गतः पूर्वोक्तप्रधानपरामर्शी । तत्र पूर्वोक्तप्रकारेण प्रधानं चानन्दमय एव, सन्निहितत्वेपि न पुच्छत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म प्रधानम् । एवं चानन्दमयपरामर्श्येव तच्छब्दः, न तु पुच्छब्रह्मपरामर्शीति ।

अथ पुल्लिङ्गनिर्देशो नोपपद्यत इति पूर्वपक्षीकृत्य, नायं दोषः, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत' इत्यत्र पुल्लिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वादिति समादधुः ।

तदपि न । तर्हि पुल्लिङ्गविशिष्टतच्छब्देनात्मा परामृश्यते, तद्वाचकश्चात्मशब्दः । एवं चातिव्यवहितात्मवाच्यपरामर्शो नोचितः, किन्तु सन्निहिततरानन्दमयस्यैव पुल्लिङ्गनिर्दिष्टस्यानन्दमयशब्दवाच्यस्य परामर्श एव । प्राधान्यं तु शब्दतोऽर्थतो युक्तितश्चानन्दमयस्यैवेत्यवोचामैवेति बोध्यम् ।

यत् पुनरपि तैरुक्तं 'या तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना'दिति तस्यां मयड्श्रवणात् प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाद्युक्तमानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम् । तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते । न चेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितम् । वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः । तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेपि विकारार्थ एव मयड्विज्ञेयः, न प्राचुर्यार्थ' इति ।

तदपि न । भार्गववारुणविद्यायां'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना'दित्यत्र मयडश्रवणेपि आनन्दशब्देनानन्दमयाभिधानात् । न ह्यानन्दमयो नानन्दः येन मयडश्रवणे आनन्दशब्दो नानन्दमयमभिदध्यात् । अपरञ्च, आनन्दमयशब्दार्थस्तु प्रचुरानन्द इति, प्राचुर्यं च प्रियमोदप्रमोदानन्दैः सामान्यविशेषानन्दरूपैरेवेत्यानन्दमयशब्दाक्षिप्तप्रियशिरस्त्वादिनामप्यागमनात् । अथ च 'रसो वै स' इत्यनेन रसरूपब्रह्मैव प्रतिपाद्यते, रसश्चालम्बनोद्दीपनविभावविशिष्टोनुभावव्यभिचारिभावविशिष्टश्च । एवं चालम्बनादिविभावे नायिकानायकयोः प्रविष्टत्वान्मुख्यत्वाच्च सविशेषब्रह्मैवात्र प्रतिपिपादयिषितम्, न निर्विशेषमेव । वाङ्मनसागोचरत्वश्रुतिस्तु ब्रह्म जीवेच्छया तद्वाङ्मनसागोचरो, ब्रह्मेच्छया तु वाङ्मनसगोचर इत्यर्थपरा अग्रे विद्वानिति वक्ति । सर्वत्रैव प्राचुर्यार्थे मयट्, न तु कुत्रापि विकार इति तु पूर्वमवोचामैवेति नात्र पुनरपि वक्तव्यमिति संक्षेपः ।

यदपि तैः पूर्वोक्तप्रकारकं स्वाभिमतं सिद्धान्तं परिकल्प्य सूत्रार्थविरोधे प्राप्ते सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानीत्युक्त्वा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यते, उत स्वप्रधानत्वेनेति । पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्ते, उच्यते, 'आनन्दमयोभ्यासात्'।

आनन्दमय इत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात् । 'असन्नेव स भवती'त्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात् । विकारशब्दादिति चेत् न, प्राचुर्यात् । विकारशब्दोऽवयवशब्दोभिप्रेतः । पुच्छमित्यवयवशब्दान्न प्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं तस्य परिहारो वक्तव्यः । अत्रोच्यते । नायं दोषः । प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः । प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्रायवचनमित्यर्थः । अन्नमयादीनां शिर आदिपुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरस्त्वादीन्यवयवान्तराण्युक्त्वाऽवयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्याह, नावयवविवक्षया, यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम् । तद्धेतुव्यपदेशाच्च । सर्वस्य च विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते । 'स इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चे'ति । न च कारणं सद्ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्यावयव उपपद्यते । अपराण्यपि सूत्रवाक्यानि यथासम्भवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानीत्यन्तेन ग्रन्थेनानन्दमयाधिकरणसूत्राणि व्याख्यातानि ।

तत्रैवं व्याख्यानं तु न शब्दार्थं स्पृशतीति विस्पष्टमेव । न हि 'आनन्दमयोभ्यासा'दित्यत्रत्यानन्दमयशब्द आनन्दमय इत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति प्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यत इत्यर्थं, विकारशब्दादित्यत्रत्यविकारशब्दोवयवरूपार्थं, प्राचुर्यशब्दो वा प्रायापत्तिरूपं चार्थं, प्रतिपादयितुं शक्तः, शक्तिग्राहकाभावात् । सम्भवति वाच्यार्थे लक्षणाश्रयणस्यान्याय्यत्वाच्चेति विचारकैः प्रेक्षावद्भिर्विचारणीयम् । अपि च, यदि सूत्रकारस्यायमेव सिद्धान्तोभिप्रेतः स्यात्तदा पुच्छत्वेनोक्तं ब्रह्म प्रधानमभ्यासादवयवशब्दादिति चेन्न प्रायवचनादित्येव सूत्रितं स्यात्, न त्वानन्दमयोभ्यासाद्विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्यादिति । अपरञ्च, व्यासचरणास्तु चतुर्विंशत्यवतारमध्ये गणिताः, अत ईश्वररूपाः । मायावाद्याचार्यास्तु जीवरूपा इति जीवेश्वरोक्तिमध्ये ईश्वरोक्तेरेव प्रमाणत्वमित्यपि न मायावाद्याचार्योक्ताभिप्रायः प्रमाणम् । न च 'शङ्करः शङ्करः साक्षा'दिति मायावाद्याचार्या अपि शङ्कररूपत्वादीश्वरा एव, न जीवा इति वाच्यम् । तर्हि विष्णुशङ्करयोरभिन्नत्वादेकाभिप्रायस्यैव योग्यत्वात् व्यासाभिप्रायविरुद्धाभिप्रायकल्पनपूर्वकमत्याग्रहेण शब्दार्थत्यागं कृत्वापि यत् सूत्राणामन्यथार्थकरणं तत्तु 'शङ्करः शङ्करः साक्षा'दित्यादिवचनसिद्धशङ्करत्वानां मायावाद्याचार्याणां जगद्व्यामोहकशास्त्रकरणकारणार्थं भगवताज्ञप्तानां जगद्व्यामोहनार्थमेवेति निश्चयात् । न च शङ्करो व्यामोहकशास्त्रकरणार्थं भगवताज्ञप्त इत्यत्र किं मानमिति वाच्यम् । 'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अल्पायासं दर्शयित्वा मोहयाशु सुरेश्वरे'ति वाराहोक्तेः । अथ च, 'यदुक्तं हरिणा पश्चादुमायै प्राह तद्धरः । त्वामाराध्य तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु । मां गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'ति

पद्मपुराणीयभगवत्सहस्रनामस्तोत्रमध्योक्तेः । अथ च 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते । मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा । सर्वस्य जगतोऽप्यस्य मोहनार्थं कलौ युगे' इति पद्मपुराणीयोत्तरखण्डीयोक्तेश्च प्रमाणत्वादिति कृतं पल्लवेन ।

यत्तु श्रीकण्ठाचार्यो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्र ब्रह्मशब्देन प्रणवमत्र केचिदिति निगूढाभिसन्धिना स्वमतं च वदन् केचिन्मतत्वेनानन्दमयशब्देन शैवी चिच्छक्तिरुच्यते, ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्रत्यब्रह्मशब्देन शिवरूपं परं ब्रह्म चोच्यते इत्याह । शिवादित्यमणिदीपिकारूपतद्व्याख्याकारोऽप्यप्पयदीक्षितोऽपीममेव पक्षं शिवादित्यमणिदीपिकायां स्वकृतानन्दलहर्याख्यग्रन्थे च महता प्रबन्धेन स्थिरीचकार ।

तत्र वदामः । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्रत्यब्रह्मशब्दः प्रणवपर इति यदुक्तं, तत्तु किं चानन्दमयस्य ब्रह्म पुच्छमिति श्रूयते तद्ब्रह्म न प्रणवः, 'असन्नेव स भवती'त्यनन्तरश्लोके तदसत्त्वं मन्यमानस्य निन्दाश्रवणात् । प्रणवस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तस्यासत्त्वशङ्कानास्पदत्वादिति शिवादित्यमणिदीपिकाकारेणैव स्वमतानुसारेण तु दूषितमेव । अस्मन्मते तु 'असन्नेव स भवती'ति श्लोकस्त्वानन्दमयस्य भाव्यसद्ब्रह्मत्वशङ्कानिवर्तकः, न तु लोकवेदप्रसिद्धप्रणवाक्षरब्रह्मविषयकासत्त्वशङ्कानिवर्तकः । तयोर्लोकवेदप्रसिद्धत्वेनासत्त्वशङ्कानुदयादस्य वैयर्थ्यापातो भवेत् । न च तर्ह्येकस्यैव ब्रह्मणः परब्रह्मरूपानन्दमयरूपेण धर्मित्वं, गणितानन्दरूपाक्षरब्रह्मरूपेण च पुच्छत्वमिति न समञ्जसमिति वाच्यम् । 'स एतावानासे'ति श्रुत्या धर्मिधर्मरूपेण परब्रह्मैवाविर्भूतमिति श्रौतसिद्धान्तादसामञ्जस्याभावात् । अत एव गीतायां 'तद्धाम परमं मम'त्यत्रत्यदेहगृहरश्मिवाचकधामशब्देनाक्षरब्रह्मणो धर्मत्वं, ममेति पदेन च स्वस्मिन् धर्मित्वं, भगवतैव स्पष्टीकृतम् । प्रणवोऽपि तद्वाचक इति सुतरां धर्मरूप एव । एवं च ब्रह्म पुच्छेत्यत्रत्यब्रह्मशब्दस्य प्रणवपरत्वेऽक्षरब्रह्मत्वे वा नास्माकं क्षतिः । वस्तुतस्तु ब्रह्मशब्दस्य प्रणवपरत्वे प्रणवः पुच्छं प्रतिष्ठेत्येवोक्तं स्यात्, न तु सन्दिग्धार्थकब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति । किञ्च, ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मप्रकृतिप्रणववेदाक्षरब्रह्मवाचकत्वेन नानार्थकत्वेऽप्यक्षरब्रह्मरूपार्थस्यैव पुरःस्फुर्तिकत्वात् पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकाभावाच्चाक्षरब्रह्मपरताया एवात्रसमञ्जसत्वान्न प्रणवपरता, किन्त्वक्षरब्रह्मपरतैवेति ज्ञेयम् । अपरं चानन्दमयस्य पूर्वोक्तरीत्यापरब्रह्मत्वेन धामत्वेन सन्निहिततरस्याक्षरब्रह्मण एव पुच्छत्वेनाधारत्वेन च कथनस्य साधीयस्त्वाच्च ।

केचित्तु ब्रह्मशब्दवाच्यपरब्रह्मभिन्नं ब्रह्मशब्दवाच्यं यावत्तत्तत्सर्वमेवात्र विवक्षितम् । तत्र त्रयं पुच्छं, 'पुच्छं पश्चात्प्रदेशे स्याल्लाङ्गुलेऽपि च कथ्यते' इति विश्वकोशात् पुच्छं पश्चात्प्रदेशः । एकं त्वाधारः । तत्र प्रकृतिरूपं ब्रह्मानन्दमयादतिदूरप्रदेशरूपम् । ततः सन्निहितपश्चात्प्रदेशरूपं, वेदरूपं ब्रह्म । ततोऽप्यक्षरब्रह्मवाचकत्वात्प्रणवरूपं ब्रह्मातिसन्निहितपश्चात्प्रदेशरूपं पुच्छशब्दवाच्यम् । प्रतिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठागृहरूपाधारः 'तद्धाम परमं मम'त्युक्तत्वाद्गृहरूपमक्षरब्रह्मानन्दमयस्यातिसन्निहितत्वात् गृहाधार इति वदन्ति । एवं

च, सर्वथापि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यत्रत्यब्रह्मशब्दवाच्यस्य गौणब्रह्मत्वमेव, न प्रधानब्रह्मत्वमिति बोध्यम् । अतः परमवशिष्यते परमव्योमापरपर्यायानन्दमयशब्देन चिच्छक्तिर्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्रब्रह्मशब्देन तदाधारः परमशिवो भगवान्नारायणस्तदंशस्तदंशाः कृष्णाद्याश्च पार्वतीरूपा इत्युच्यते । उपबृंहणरूपकूर्मपुराणादिवायुसंहिताद्युपबृंहितश्वेताश्वतराद्युपनिषन्मन्त्रादिभिरेतादृशार्थस्यैव प्रतिपादितत्वादिति ।

तत्रापि ब्रूमः । 'वेदार्थो यः स्वयं ज्ञातस्तत्र शङ्का भवेदपि । ऋषिभिर्निश्चिते तत्र का शङ्का स्यान्मनीषिणा'मिति व्यासवचनं शिवतत्त्वविवेके तेनोदाहृत्यास्मदादिबुद्धिव्यवस्थापितवेदार्थापेक्षया ऋषिव्यवस्थापितवेदार्थस्य ज्यायस्त्वं प्रतिपादितम् । अस्मदपेक्षयाधिकज्ञानवत्त्वात् । एवञ्च, यथास्मद्बुद्धिव्यवस्थापितवेदार्थापेक्षयार्षिव्यवस्थापितवेदार्थस्य ज्यायस्त्वं, तथैवर्षिव्यवस्थापितवेदार्थापेक्षया ब्रह्मशिवादिव्यवस्थापितवेदार्थस्य ज्यायस्त्वम्, ऋष्यपेक्षया तेषामधिकज्ञानवत्त्वात् । एवमेव ब्रह्मशिवादिव्यवस्थापितवेदार्थापेक्षया पूर्णपुरुषोत्तमरूपश्रीकृष्णव्यवस्थापितवेदार्थस्य ज्यायस्त्वम् , पूर्णपुरुषोत्तमापेक्षया तेषां ज्ञानस्य न्यूनत्वात् । अत एव 'सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः । कवय आनतकन्धरचिताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वा ' इत्यनेन शक्रशर्वपरमेष्ठ्यादीनां भगवत्तत्त्वज्ञानेऽज्ञानमुक्तं श्रीभागवते । एवं च सर्वावतारावतारमूलभूतेन सारस्वतकल्पप्रकटेन सर्ववेदपुराणादिविभागकरणेनाप्यजातचित्तप्रसादस्य श्रीमतो व्यासस्यापि चित्तप्रसादजनकेन श्रीभागवतोक्तेन भगवता श्रीदेवकीनन्दनेन 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाह'मित्यनेन गीतायाम्, अथ च ' किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चने'त्यनेन श्रीभागवतैकादशस्कन्धे स्वस्यैव परमकाष्ठापन्नवेदहृदयज्ञानं, स्वातिरिक्तस्य च वेदहृदयाज्ञानमुक्त्वा सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्यः, मदन्यो न वेद्य इत्येवकारेण विशेष्यसङ्गतत्वादन्ययोगव्यवच्छेदकेन गीतायाम्, अथ ' मां विधत्तेभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहं, एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदे'त्यनेनैकादशस्कन्ध एव च विधानाभिधावृत्तिप्रतिपादनविकल्पकरणतदपोहनविषयकस्य सर्वस्यापि वेदस्य स्वप्रतिपादकत्वमुक्तं, गीतावाक्यस्य ' अहमेव वेद्य ' इत्यनेन गीतायां निश्चयवाचकहिशब्देनैकादशस्कन्धे च स्वातिरिक्तप्रतिपादकत्वाभावश्च वेदस्योक्तः । तथा चानन्दमयशब्दस्य शैवचिच्छक्तिवाचकत्वं ब्रह्मशब्दस्य परमशिववाचकत्वं च खपुष्पायमाणमेव । सर्वेषामपि वेदशब्दाना 'महमेव वेद्य' इत्यनेन सामान्योक्त्या सर्वविधवृत्त्या 'मामभिधत्ते' इति वाक्येनाभिधयापि श्रीदेवकीनन्दनेन स्वप्रतिपादकत्वस्यैवोक्तत्वात् । कस्मिन्नप्युपबृंहणेन्नमयादिष्वानन्दमयशब्देन शैवचिच्छक्तिरुक्तेति कण्ठरवेणानुक्तत्वाच्च । श्रीभागवतरूपोपबृंहणे तु वेदस्तुतौ वेदैरेव 'पुरुषविधोन्वयोत्र चरमोन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृत'मित्यत्रानन्दमयस्य भगवत्त्वमुक्तं कण्ठरवेणैव । अस्य श्लोकस्य ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्रोक्तपुच्छब्रह्मपरतया योजनं तु पूर्वोक्तप्रका-

रेणानन्दमयस्य प्राधान्यस्थापनेन पुच्छरूपब्रह्मणोऽप्राधान्यस्थापनेन च निरसनीयम् । एवं च नानन्दमयशब्देन शैवी चिच्छक्तिरायातीति न किञ्चिदेतत् ।

न च भागवतमप्रमाणमिति वाच्यम् । शिवतत्त्वविवेके कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्पदीशे यद्व्यक्षरं नाम गिरेरितमित्यादिश्रीभागवतश्लोकानां प्रमाणत्वेनोपन्यासात्तेनैव प्रमाणत्वाङ्गीकारात् । ननु वैष्णवैर्भागवतं प्रमाणमुच्यत इति तत्प्रमाणीकृत्य भागवतवचनैरेव वैष्णवमुखमुद्रणं कर्तव्यमित्यभिप्रायेण भागवतवचनोपन्यासः कृतः शिवतत्त्वविवेककर्त्रा, न तु तत्प्रमाणीकृत्य कृत इति वाच्यम् । एवंप्रकारेण शिवतत्त्वविवेकलिखनाभावात् । एतादृशाभिप्रायेण लिखने संवत्सरप्रदीपाद्यतिप्राचीनगौडनिबन्धेषु हेमाद्र्यादिदाक्षिणात्ययतिक्षेमेन्द्रप्रकाशादिकाश्मीरदेशीयनिबन्धेषु स्मार्तभट्टाचार्यकृतस्मार्तनिबन्धेषु च श्रीभागवतवचननिचयलिखनात् श्रीभागवतप्रामाण्यस्य ब्रह्मणापि दूरीकर्तुमशक्यत्वात् । न च व्यासचित्तप्रसादसम्पादकत्वादि भागवतोक्तमर्थवादरूपमिति वाच्यम् । 'पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः । तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि । समस्तकर्मनिर्मूलसाधनानि नराधमः । पुराणान्यर्थवादेन ध्रुवन्नरकमश्नुते ।' 'अहो हि वाक्ये चतुरक्षरे द्वे पुण्यस्य पापस्य निदानभूते, उच्चारणादेव नृणां मुनीन्द्रा नारायणश्चेति तथार्थवाद' इत्यादिबृहन्नारदीयप्रथमाध्यायवचनैः पुराणेष्वर्थवादत्वोक्तेर्निषिद्धत्वात् । न चैतदप्यर्थवादरूपमिति वाच्यम् । यत्र यत्कथनादौ पापोत्पत्तिश्रवणं तत्र वाक्येऽर्थवादत्वकथने 'यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपुरुषं, स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मसु गर्हितः' इत्यादिवाक्यानामस्माभिरप्यर्थवादत्वस्य वक्तव्यत्वेन सन्ध्यावन्दनयागादिधर्माणां नित्यत्वाभावापत्तेः । तस्माद्यस्मिन् वाक्ये यत्करणे यत्कथनादौ वा पापोत्पत्तिरुच्यते, तद्वाक्यस्यार्थवादत्वरूपकथनं सर्वधर्ममार्गनाशकमेव । एतद्भिन्नवाक्य एवार्थवादत्वकथनं कदाचित्सामञ्जस्यमाप्नुयात् । वस्तुतस्तु तत्राप्यर्थवादत्वकथनं महासाहसरूपमेव । यतो हरिवंशे कलिधर्मीयभविष्यकथने 'अर्थवादः परं ब्रह्म वेदार्थ इति तं विदुः, अनिर्णीतमविज्ञातं दायाद्यमिव धार्यते' इति वचनेन वेदार्थेऽर्थवादत्वकथनं कलौ करिष्यन्तीत्युक्तम् । ननु तर्हि पुराणान्तरोक्तार्थानामप्रामाण्यापत्तिरिति चेत् । न । सर्वपुराणोक्तानामप्यर्थानां प्रमाणत्वात् । न च तर्हि भागवतोक्तार्थे को विशेष इति वाच्यम् । परमकाष्ठापन्नार्थप्रतिपादकत्वस्यैव विशेषात् । न च स विशेषः कथं ज्ञात इति वाच्यम् । सर्ववेदविभागपुराणादिकरणेनापि व्यासचित्तप्रसादो न जातः, तदनु नारदोपदेशेन भक्तियोगपूर्वकमनःप्रणिधाने श्रीव्यासचरणैः कृते सति चित्तप्रसादो जातः, तदनन्तरं 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रया'मित्यादिना पूर्णपुरुषोत्तमदर्शनं जातम्, तदनु श्रीभागवतं कृतम् । एवं च श्रीभागवते ये येऽर्था उपनिबद्धास्ते सर्वेऽपि स्वसमानजातीयेषु परमकाष्ठापन्ना एवेति श्रीभागवतादेव ज्ञातत्वात् । एवं च न कस्यापि पुराणाद्युक्तार्थस्याप्रामाण्यम् किन्तु तारतम्यमात्रमेवेति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया ।

भक्तमनुसरामः । एतेनैव मायावाद्याचार्यकृततैत्तिरीयभाष्योक्तमेतच्छ्रुतिव्याख्यानं परास्तम् ।

अथाविदुषोप्रकृतत्वेप्यानन्दमयस्यैव सर्वान्तरात्मत्वात् विद्वदविदुषोरप्यन्तरात्मत्वेन वैद्वदविद्वद्विषयकप्रश्नानाह अथातोनुप्रश्ना इत्यादिना ।

अथातोनु प्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चन गच्छति ३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चित्समश्नुता ३ उ इति ।

अथैतदनन्तरं यस्मादानन्दमय एव सर्वेषामान्तर आत्मलाभस्यैव च 'आत्मलाभान्न परं विद्यत' इति श्रुतेः परमपुरुषार्थत्वम्, अतो हेतोरनु ब्रह्मोपदेशानन्तरं प्रश्नाः शिष्यकृता इति शेषः । तानेव प्रश्नानाह उताविद्वानमुं लोकमित्यारभ्य कश्चित्समश्नुता उ इत्यन्तेन । उत अपि अविद्वान् 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्रोक्तत्वात् साधनशेषं ब्रह्म यो न जानाति सः अमुं लोकं प्रेत्य यदादीनां बुद्धिस्थवाचकत्वात् यत्रानन्दमयस्तिष्ठति, यत्र स्थित्वा सर्वकामभोगो यः पूर्वं 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यृचि परमव्योमशब्देनोक्तस्तं लोकं व्यापिवैकुंठं कश्चन कोपि गच्छति । अथवा, सर्वोविद्वान् गच्छति, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वात् विदुषमविदुषं प्रत्यवशिष्टत्वात् । आहो अथवा विद्वान् पूर्वोक्तं ब्रह्म जानन्नमुं पूर्वोक्तं लोकं कश्चित्कोपि समश्नुते भुङ्क्ते ब्रह्मणा सह । अथवा सर्वोपि विद्वान् भुङ्क्ते इत्यर्थः । एवं प्रश्नचतुष्टयम् । तत्र प्रश्नद्वयं तु कण्ठरवेणोक्तम् । प्रश्नद्वयं तु शब्दसामर्थ्यप्राप्तमिह ज्ञेयम् । यद्वा, प्रश्ना इति बहुवचनं भृगुवल्ल्युक्तप्रश्नाभिप्रायेण योजनीयम् । ननु 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र ब्रह्मविद एव परप्राप्तिरित्युक्तम्, अतो विद्वद्विषयक एव प्रश्न उचितः, न त्वविद्वद्विषयक इति चेत् ? न । ब्रह्मवित् परं प्राप्नोतीत्युक्ते अब्रह्मवित् परं न प्राप्नोतीति तु न प्रतीयते, ब्रह्मवित्पदोत्तरमेवकाराभावात् । तथा चाविद्वद्विषयकोपि प्रश्न उचित एवेति गृहाण । न च ब्रह्मज्ञानं विनापि परब्रह्मप्राप्तिरित्यत्र मानाभावः, तथा च कथमविद्वद्विषयकप्रश्नो घटत इति वाच्यम् । 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिहेति श्रीभागवतीयभगवद्वचनस्यैव ज्ञानाभावेपि परब्रह्मप्राप्तौ प्रमाणत्वादविद्वद्विषयकप्रश्नोपपत्तेः ।

एवं प्रश्नचतुष्टये कृते परप्राप्तौ विद्वदविद्वत्त्वे न स्वतन्त्रप्रयोजके, किन्तु 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेर्भगवद्वरणमेव प्रयोजकम्, वरणं चेच्छाधीनमेवेति भगवदिच्छायाः सर्वमूलत्वं प्रतिपादयन् 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना 'सर्गः कारणसम्भूति'रिति लक्षणात् सर्वकारणरूपब्रह्माण्डरूपसर्गमुक्त्वा, 'विसर्गः पौरुषः स्मृत'इति लक्षणात् सर्गकार्यं विसर्गं वदन् सर्वत्र भगवदिच्छैव प्रयोजिकेति प्रश्नचतुष्टयस्याप्युत्तरमाह सोऽकामयतेत्यारभ्य एष ह्येवानन्दयातीत्यन्तेन ।

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

इद॑ँ सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च । तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । (विज्ञानं चाविज्ञानं च ।) सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति । असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मान॑ँ स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति । यद्वै तत्सुकृतम् । रसो वै सः । रस॑ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयातीति ।

यतस्तस्मात् एतस्मादित्यत्रोक्तः सोऽकामयत इच्छां कृतवान्, कीदृशीमिच्छां कृतवानित्यत आह बहु स्यामिति । अनेकरूपः स्यामाविर्भवामि । अथ च प्रजायेय प्रपञ्चे जन्मभाक् भवामीत्यर्थः । प्रपञ्चाधिकरणकप्रादुर्भावविषयिणीच्छा च जातेति ज्ञापितं तदा स आत्मा 'यस्य ज्ञानमयं तप' इति श्रुतेस्तप एवमेवं भविष्यामीत्यालोचनात्मकं ज्ञानं कर्मातप्यत, तापितवान् । अन्तर्भावितण्यर्थोयम् । सामान्यालोचने विशेषालोचनमपि कृतवानित्यर्थः । यद्वा, धात्वर्थरूपविशेषस्य तपःशब्देनैवोक्तत्वात् सामान्यक्रियामात्रवाचकत्वमेवातप्यतेत्यस्य । तथा च कृतवानित्यर्थः । स पुनस्तपस्तस्वा तापयित्वा कृत्वा वा इदं सर्वं परिदृश्यमानमसृजत सृष्टवान् । अथ च यदिदं किञ्च । किञ्चन (न) वर्तते । तत्सृष्ट्वा तदेव सृष्टमेव जगत्प्राविशत् प्रविष्ट इत्यर्थः । पुनस्तदनुप्रविश्य सत् पूर्वचक्षुः प्रत्यक्षमिति यावत्, त्यत् अमूर्तं चक्षुःप्रत्यक्षाभाववत्, निरुक्तं वाग्विषयं, अनिरुक्तमवाग्विषयमनुभवैकवेद्यं ज्ञानं प्रेमादि सुखदुःखादि च, निलयनं स्थानभूतमनिलयनमाधारत्वाभाववत् यत्तदपि, सत्यं यथार्थवचनमनृतं मिथ्यावचनं सत्यं सत्यरूपं ब्रह्माभवज्जातम् । यस्माच्च सत्यमभवत् सर्वमतो यदिदं किञ्च किञ्चिज्जातं तत् सत्यमिति परमार्थभूतम्, न तु मिथ्याभूतमिति ऋषय आचक्षते कथयन्तीत्यर्थः । एतेन ब्रह्मवाद एव श्रुतेरभिमतः, न तु मायावाद इति ज्ञेयम् । यद्यपि सत्यं ब्रह्मैवेदं सर्वं जातम्, अतो नित्यत्वमागतमेव सृष्टौ, तदपि तथापि जगत्सत्यत्वसाधनार्थमेष वक्ष्यमाणः श्लोकोपि भवति वर्तते । तं श्लोकमाह असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि । इदं परिदृश्यमानं जगद् वै निश्चयेन अग्रे भगवत्कामात् पूर्वमसदविद्यमानमासीत् । वै निश्चयेन ततः सद्विद्यमानमजायत जातम् । यस्मात्पूर्वमसत्तच्चेत् सज्जातं सदा ज्ञेयं तत्सदेव । अत्यन्तासतो विद्यमानत्वाभावात् । अत एवोक्तं गीतायां भगवता 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इति । तदात्मान॑ँ स्वयमकुरुतेति । तद् ब्रह्म स्वयमन्यानपेक्षं सदात्मानं स्वस्वरूपमेव सर्वमकुरुत कृतवत् । तत्र तिरोहितचिदानन्दांशस्वसदंशेन जडं, तिरोहितानन्दांशस्वसच्चिद्रूपांशाभ्यां जीवात्मनः, प्रकटस्वसच्चिदानन्दांशैरन्तर्यामिणं कृतवदिति विवेक्तव्यम् । तस्मात्कारणात्तत्

र्वोक्तं सृष्टं सुकृतमिति सुकृतनाम्ना उच्यते कथ्यते ब्रह्मवादिभिरिति शेषः। अथ यस्मा-कारणाद्धै निश्चयेन। तत् सुकृतं सृष्टानन्यसहायेन स्वेनैवोपादाननिमित्तभूतेन स्वात्मना कृतं रचितम्। अथ च रसो वै सः। स आत्मा वै निश्चयेन रसरूपो विभावानुभाव-व्यभिचारिभावसमूहरूपः, अत आलम्बनविभावरूपोयं जीवो रसं ह्येव हि निश्चयेन रस-मेव लब्ध्वा लाभत्वेन प्राप्य, न तु स्वकृतसाधनेन, आनन्दी आनन्दवान् भवति, सत्तां प्राप्नोति, नान्यप्राप्त्येत्यर्थः। 'यथान्नात्पुरुष' इत्युक्तत्वादन्नादुत्पन्नस्य शरीरस्यान्नमेव स्थितिसम्पादकं सुखकरं च, यथा च जलादुत्पन्नस्य मत्स्यादेर्जलमेव स्थितिकरं सुखकरं च, तथा तस्माद्रसरूपब्रह्मण उत्पन्नस्य चेतनस्य रसलाभ एवानन्दाविर्भावः, तेनैव च स्वरूप-स्थितिरिति श्रुत्या सुप्रोक्तं रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी आनन्दवान् सन् भवति स्थितिं प्राप्नोतीति। तदेतदाह को ह्येवान्यादित्यादिना। को जीवो हि निश्चयेन अन्यात् प्राणधारणं कुर्यात्, न कुर्यादेव। यद्येतस्य प्राप्तिर्न स्यात्तदा देहः पतेदेव। एतद्विप्रयोगस्य प्रलयानलादपि तीक्ष्णत्वात्। ननु देहपतनमन्तर्गृहगतादेहस्येव प्राकृतदेहस्य सम्भवति, न त्वलौकिकदेहवतां रासमण्डलमण्डनायमानसदृशानामित्याशङ्क्याह कः प्राण्यादिति। को जीवः प्रकर्षेण अन्यात् प्राणधारणं कुर्यात्। यत् यदा एष रसरूप आकाशे हृदयाकाशे आनन्दो रसरूपानन्दो न स्यात्, किन्तु निकर्षेणातिकष्टेन प्राणधारणं कुर्यादिति भावः। अत एवोक्तं भगवतोद्धवं प्रति 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'ति दशमस्कन्धीय-चतुश्चत्वारिंशाध्याये। तथा चैतद्रसरूपभगवत्प्राप्त्यैवानन्दवान् जीवो भवतीति सिद्धम्। नन्वेतादृगानन्दप्राप्तौ किं कारणमित्यत आह एष ह्येवानन्दयातीति। हि निश्चयेन एष रसरूपो भगवानेव आनन्दयात्यानन्दयति, 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्नान्य इत्यर्थः। दीर्घोत्र छान्दसो ज्ञेयः। तथा च यत्र कृपया स्वेन सह भोगानन्दकरणेच्छा भगवतस्तस्यैव भक्त्युत्पत्तेः परमव्योम्नि परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगो भवति, यत्र तादृशी नेच्छा, तत्र भक्त्यनुत्पत्तेः परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगो न भवतीति विद्वदविद्वत्त्वे तादृशसर्वकामभोग-करणे न स्वतन्त्रप्रयोजके, किन्तु भगवद्वरणमेवेति तात्पर्यम्। एवं प्रश्नचतुष्टयस्योत्तरं दत्तम्।

ननु परब्रह्म केवलमिच्छयैवानन्दयत्यथवान्यदपि किञ्चित् कारयित्वा वेत्याशङ्काया-माह यदा ह्येवैष इत्यादि।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति। भीषास्मा-द्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इतीति।

यदा तस्येच्छया हि निश्चयेनैष जीवः एतस्मिन् रसरूपे अदृश्ये जीवप्रयत्नेन

द्रष्टुमशक्ये, न तु तस्येच्छया, यद्वा दृश्यं विकारस्तद्रहिते, **अनात्म्ये** आत्मनोन्तःकरणस्य भाव आत्म्यं, न विद्यते कामक्रोधादि भेदेन यस्य तादृशे, कामक्रोधादीनां परब्रह्मस्वरूपभूतत्वात्, **अनिरुक्ते** वचनागोचरे, अत एव 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्युक्तम् । तथा चानुभवैकवेद्य इत्यर्थः । **अनिलयने** न विद्यते नितरां लयनं लयोऽक्षरब्रह्मणीव यस्मिन्, रसरूपत्वेन व्यभिचारभावरूपेणैव लयसत्त्वात् । **ईदृशे अभयमथ च प्रतिष्ठां** तदेकाग्रत्वं तत्सेवासावधानत्वमिति यावत्, तत् **विन्दते** लभते । **अथ** एतदनन्तरं **स** पुरुषः **अभयं** भावे 'न बिभेति कुतश्चने'त्यत्रोक्तं पापपुण्यकरणाकरणाचिन्तनरूपं **गतः** प्राप्तो भवतीत्यर्थः । **अथ यदा ह्येष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुत** इत्यादि । यदा भगवदिच्छया उदरं भरणीयं जठरमन्तरं मध्ये कुरुते सकामत्वं सम्पादयतीति यावत् । यद्वा, अल्पमपि अन्तरं भेदमयं सगुणं ब्रह्मेति, निर्गुणं त्वन्यत्, अथ तस्य भयं पापपुण्यकरणाकरणचिन्तनं भयं भवतीत्यर्थः । **तत्त्वेवमित्यादि** । एवमनेन प्रकारेण सकामरूपत्वेन सगुणनिर्गुणब्रह्मणोः कार्याकार्यरूपस्वरूपभेदकरणेन च भयं पूर्वोक्तं विदुषो जानतः, अत एव **मन्वानस्या**ङ्गीकर्तुस्तु पुनस्तत् पूर्वोक्तं (प्र) भयं भवतीत्यर्थः । तत्रास्मदादिभिर्भयं कर्तव्यमित्यत्र किं वक्तव्यम्; वातादयो देवा अपि यस्य भयेन निरन्तरं गमनादिकं कुर्वन्तीत्याह **भीषास्माद्वातः पवत** इत्यादि । **अस्मात्** परब्रह्मणः सकाशाद्भीषा भयेन **वातः पवते**, निरन्तरं गच्छतीत्यर्थः । एवमेवाग्रेप्यर्थो बोध्यः । अत्र भीषा इति हलन्तशब्दस्य तृतीयान्तं, तृतीयार्थे वा प्रथमा, 'व्यत्ययो बहुल'मिति सूत्रात् । अत्र वातादीनामपि भयोक्त्या ब्रह्माधीनत्वमुपलक्षणविधया सर्वेषामुक्तम्, तेन च परब्रह्मणि सर्वेशितृत्वमुक्तम् । तेन च जीवानां सहजदासत्वं प्रतिपादितमिति ज्ञेयम् । एवं च केवलेच्छयैव परब्रह्म नानन्दयति, किन्त्विच्छोत्तरं जीवे स्वदासत्वज्ञानं स्वस्य रसरूपत्वात् स्थायिभावरूपां स्नेहापरपर्यायां स्वविषयकरतिं तज्जनितामासक्त्यपरपर्यायां प्रतिष्ठापदवाच्यां स्वविषयकचित्तैकाग्रतमग्रे व्यसनजनिकां चाविर्भाव्यानन्दयतीति भावः ।

यद्वा, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्य इत्यादेरयमर्थः । सर्वकामभोगानन्दप्राप्तिः परब्रह्मण इच्छयैव, विद्वदविद्वत्त्वे तु न स्वतन्त्रप्रयोजके । एवमेव यदा परब्रह्मण इच्छया हि निश्चयेनैष जीवो अदृश्ये चक्षुषा द्रष्टुमयोग्ये 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते', 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःख'मिति वाक्यादव्यक्तरूपत्वात् । अनेन व्यक्तरूपाभाव उक्तः । अनात्म्ये न विद्यते आत्म्यमन्तःकरणधर्मो यस्य, अनेनान्तःकरणधर्मतिरोभाव उक्तः । अनिरुक्ते न विद्यते निरुक्तं वचनं यस्य, अनेन वचनतिरोभाव उक्तः । अनिलयने न विद्यते निलयनं गृहं यस्य, गृहस्य परिच्छिन्नत्वात्तदभावबोधने सर्वत्र व्यापकत्वमुक्तम्, एतेन परिच्छेदतिरोभाव उक्तः । एतादृशे एतस्मिन्साधनशेषब्रह्मस्वरूपे एष जीवो 'द्वितीयाद्वै भयं भवती'ति द्वितीयस्य भयजनकत्वादभयमद्वितीयत्वं स्वात्माभिन्नत्वमिति

यावत्, अथ च प्रतिष्ठामेकाग्रत्वं तदेकधारणात्मकतां च विन्दते, अथ स जीवः अभयं तदात्मकत्वमेव गच्छति, लयं मुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः । उक्तं चैतत् 'सर्वं ब्रह्मे'ति ज्ञानं हि मुक्तिसाधनम्, तत्र सर्वस्यैव ब्रह्मत्वेन ज्ञाने आधाराधेयादिज्ञानाभावादक्षरब्रह्मणि रूपादिसत्त्वेपि रूपादिज्ञानाभाव' इति । अथ 'एष एव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति, एष ह्येवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषती'ति श्रुतेः परब्रह्मेच्छायां यदा हि निश्चयेनैतस्मिन्साधनशेषब्रह्मणि उत् अल्पमन्तरं भेदं कुरुते, अन्योसावन्योहमस्मीति श्रुत्युक्तं, भेदज्ञानवान्भवतीति यावत्। तदा 'द्वितीयाद्वयं भवती'ति श्रुत्युक्तं भयं संसाररूपमिति यावत् । तत् तस्य भवतीत्यर्थः । तथा च परब्रह्मणो यज्जीवविषयिणी सर्वकामभोगेच्छा तस्य प्रत्यक्षीभूते स्वस्वरूपे प्रेमादिकमुत्पाद्य स्वेन सह सर्वकामभोगानन्दं ददाति । यद्विषयिणी तु न सर्वकामभोगानन्ददानेच्छा, किन्तु साधनशेषब्रह्मप्राप्तीच्छा, तस्य तु पूर्वोक्तं ब्रह्माभेदज्ञानं जीवात्मन उत्पाद्य तस्मिन् लयरूपां मुक्तिं ददाति । यज्जीवविषयिणी न सर्वकामभोगानन्ददानेच्छा, न वा ब्रह्मणि लयरूपमुक्तिदानेच्छा, तस्य तु भेदज्ञानमुत्पाद्य संसारमेव ददातीति तात्पर्यं ज्ञेयम् । तत्त्वेवं भयं संसाररूपं विदुषः शास्त्राज्जानतः अथवा मन्वानस्याङ्गीकर्तुर्भवति शास्त्राज्जानतो मन्वानस्याङ्गीकर्तुस्तु (न) भवतीत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे निःसन्दिग्धत्वाय श्लोकोपि भवतीत्याह तदप्येष श्लोको भवतीति । तत्र मनुष्याणां भेदद्रष्टॄणां भयं भवतीत्यत्र किं वक्तव्यं, मनुष्यापेक्षयोत्कृष्टानां वातादिदेवानामपि भेददर्शनजभयात्तत्कार्ये निरन्तरं दृश्यत इत्याह भीषास्मादित्यादि । अर्थः स्पष्ट एव ।

ननु 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुत्यन्तरात्साधनशेषब्रह्मणोप्यानन्दरूपत्वं परब्रह्मणोप्यानन्दरूपत्वम्, एवञ्च, द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् किं परब्रह्मानन्दप्राप्त्यावाधिक्यम्, किं वा साधनशेषब्रह्मानन्दप्राप्तौ न्यूनत्वमित्याशङ्कायां परब्रह्मानन्दो हि निरवध्यानन्दत्वात् परमफलरूपः, साधनशेषब्रह्मानन्दस्तु सावध्यानन्दत्वान्न्यूनफलरूप इति सिद्धान्तं वक्तुमानन्दस्योत्कर्षापकर्षविचारमाह सैषानन्दस्य मीमांसा भवतीत्यारभ्य स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यन्तेन ।

सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति । युवा स्यात् साधुयुवाध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्द इति । ये ते शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं मनुष्यगन्धर्वणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं पितॄणां चिरलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां

देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं कर्मदेवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य इति ।

एषा वक्ष्यमाणा सा प्रसिद्धा आनन्दस्य मीमांसा विचारो भवति जायते । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति, भविष्यत्यर्थेपि वर्तमानार्थको लकारः प्रयुक्तः । युवा स्यात् साधुयुवाध्यायक इत्यारभ्य पूर्णा स्यादित्यन्तेन । मुख्यतया मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य प्रथमतो मनुष्यानन्दमाह युवा स्यादित्यादिना । सर्वलोके हि तारुण्यमेव स्त्र्यादिविषयभोगे समर्थं कारणमिति भगवतापि कंसवधोत्तरं स्थविराणामपि यादवानां तारुण्यं दत्तमिति श्रीभागवतदशमस्कन्धे श्रूयत इति मनुष्यलोकेपि युवा तारुण्यवान् भवेत् । तत्र युवत्वं रोगाद्यभिभूतस्यापि भवति । तथा च तेन विषयभोगः कर्तुमशक्य इति व्यर्थं युवत्वमित्याशङ्क्याह साधुयुवा स्यादिति । साधुरुत्तमयुवा रोगाद्यनभिभूतो युवा स्याद्भवेत् । एवमपि यदि त्रिवर्गशास्त्राणि नित्यं नाभ्यसेत् तदा धर्माभावाच्छत्रुनाशाभावात् वेश्यादिगमनप्रसक्तेश्चायुषो नाशे किञ्चित्कालिक एव विषयभोगो भवतीति किं साधुयुवत्वेनेत्याशङ्कायामाह अध्यायक इति । वेदादिशास्त्राध्ययनशील इत्यर्थः । अधिपूर्वादिङो ण्वुलिरूपमिदम् । किञ्च, आशिष्ठः । अशनं आशः स विद्यते यस्य, सोपि आश अर्शआद्यचा सिद्धस्तस्मादतिशायन इष्ठश्च तेनाशिष्ठ इति सिद्धम् । अनेन प्रभूतभक्षकत्वम्, तेन स्त्र्यादिभोगकरणसमर्थत्वमुक्तम् । एतादृशः स्याद्भवेदित्यर्थः । अत एवोक्तं ' भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियाः । विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फल'मिति । किञ्च, दृढिष्ठोतिशयेन दृढो, दृढः स्थूलबलयोरिति निपातनाश्चात्यन्तसौकुमार्यादियुक्तः । अत्यन्तसौकुमार्यादियुक्तत्वे श्रमस्य जायमानत्वात् किमपि कार्यं न सिध्येदित्यत उक्तं (च) दृढिष्ठः स्याद्भवेदित्यर्थः । किञ्च, बलिष्ठोतिशयेन बलवान्, सर्वप्रकारकबलवान्, शरीरसेनामित्रादिमन्त्रादिबलवानित्यर्थः । एतादृशस्य सार्वभौमता भवतीत्याह तस्येयमिति । तस्य पूर्वोक्तबलवत इयं पृथिवी सर्वा पञ्चाशत्कोटियोजनपरिमिता वित्तस्य द्रव्यस्य स्थापनार्थं पूर्णा पर्याप्ता स्यात् । एतावद् द्रव्यं स्यादिति भावः । एतेन सार्वभौमत्वं सूचितम् । यद्वा, ' व्यत्ययो बहुल'मिति सूत्रात्

तृतीयार्थे षष्ठी । तथा च वित्तेन पूर्णा सती स्याद्भवेत्, सर्वविधवित्तयुक्तसर्वपृथिव्यधिपतिः सार्वभौम इति यावत्, स भवेदिति तात्पर्यम् । उपसंहरति स एषः पूर्वोक्तसम्पत्तियुक्तस्यानन्दो मानुषो मनुष्यसम्बन्ध्यानन्दः । एतावज्जनितानन्देन मनुष्यो मनुतेहं पूर्णानन्दवानस्मीत्यतोयं परमकाष्ठापन्नो मानुषानन्दः । अथैतदपेक्षयोत्कृष्टानन्दं वदन्नेतादृशानन्दशतं मनुष्यगन्धर्वाणामेक आनन्द इत्याह ये ते शतं मानुषा इत्यारभ्य मनुष्यगन्धर्वाणामानन्द इत्यन्तेन । अत्र ये शतं मानुषा आनन्दास्ते शतं आनन्दा मनुष्यगन्धर्वाणामेक आनन्द इत्यर्थः । ननु मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दास्तेषामेवाथवा कस्याप्यन्यस्यापि भवतीत्याशङ्कायामाह श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति । अकामहतस्य निष्कामस्य, श्रोत्रियंश्छन्दोधीत इति । निपातनाच्छन्दोध्येतुरित्यपि सूचितम् । अकामहतस्य श्रोत्रियस्य तु ब्रह्मानन्देन सहाग्रे वक्ष्यमाणा आनन्दा सर्वेपि भवन्तीत्यग्रे निरूप्यमाणानन्दनिरूपणेषु श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति सर्वत्रोक्तं ज्ञेयम् । अत्रेदं ज्ञेयम् । यस्तु स्वधर्मकरणे निष्ठां परमकाष्ठां प्राप्तः, स 'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि मा'मिति श्रीभागवतवचनाच्चतुर्मुखतां प्राप्य तेन सह मुक्तो भवति । यस्तु श्रोत्रियत्वाकामहतत्वे वर्षे वर्षेऽधिकं प्राप्नोति, स तु विनैव पुनर्जन्मक्रमेण सर्वानन्दाननुभूयाक्षरब्रह्मसायुज्यं प्राप्नोति । यस्तु श्रोत्रियत्वाकामहतत्वे तारतम्येन प्राप्नोति, स तु तत्तल्लोकानन्दानुभवोत्तरं जन्म प्राप्याक्षरब्रह्मसायुज्यं प्राप्नोतीति दिक् । अत्र मानुषा भूत्वा ये कर्मविद्याविशेषाद्गन्धर्वत्वं प्राप्तास्ते मनुष्यगन्धर्वास्ते ह्यन्तर्धानादिशक्तियुक्ताः सूक्ष्मकार्यसम्पादका मनुष्यापेक्षयानन्दानुभवे विघ्नाल्पत्वं विघ्नदूरीकरणशक्तिसाधनसम्पन्नत्वं च तेषामिति मनुष्यापेक्षया तेषामानन्दस्य शतगुणत्वं बोध्यम् । अयमप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यांशभूत एव, 'तस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेः । अत्र तु विघ्नदूरीकरणसामर्थ्यतारतम्याद्विघ्नाभावतारतम्येन चित्तप्रसादतारतम्यादानन्दांशाभिव्यक्तितारतम्यं ज्ञेयं सर्वत्र । अथैतदपेक्षयाप्यधिकमानन्दमाह ये ते शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्द इति । देवाश्च ते गन्धर्वाश्च कर्मविद्याभ्यां ये गन्धर्वा न जाता किन्तूत्पत्तिसिद्धा गन्धर्वास्ते देवगन्धर्वा उच्यन्ते, ते मनुष्यगन्धर्वेभ्यो विशिष्यन्ते इति ज्ञेयम् । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति । अयमप्यानन्द अकामहतस्य श्रोत्रियस्य भवति । तस्मात् ब्रह्मानन्दे एतदानन्दस्याप्यन्तर्भावात्, समुद्रे विप्रुष इवेति बोध्यम् । अथैतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह ये ते शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति । चिरलोकश्चिरस्थायी लोको येषां ते चिरलोका इत्यर्थः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति तु पूर्ववदेव व्याख्येयम् । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह ये ते शतं पितॄणां चिरलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति । आजान इति देवलोकस्तस्मिन्नाजाने जाता आजानजा देवाः

स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जातास्त इत्यर्थः । श्रोत्रियस्येत्यादि तु पूर्ववदेव व्याख्येयम् । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह **ये ते शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति ।** वैदिककर्मणाग्निहोत्रादिना केवलेन देवानपियन्ति प्राप्नुवन्ति ते कर्मदेवा इत्यर्थः । श्रोत्रियस्येत्यादि तु पूर्ववदेव व्याख्येयम् । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह **ये ते शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति ।** अत्र देवाः त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजो ज्ञेयाः । अन्यत्पूर्ववदेव व्याख्येयम् । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह **ये ते शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति ।** इन्द्रो हि त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजां देवानामीश्वर इति तदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दो ज्ञेयः । अन्यत्तु पूर्ववदेव । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह **ये ते शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति ।** इन्द्रस्याचार्यो बृहस्पतिरिन्द्रापेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दः, इन्द्रानन्दस्य तदधीनत्वादित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दमाह **ये ते शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति ।** प्रजापतिर्हि ब्रह्मा त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा विराट् स समष्टिव्यष्टिरूपः, प्रपञ्चमण्डलव्यापी, यत्रैते आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति, स सर्वेषामीश्वरः, स तदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्द इति ज्ञेयम् । अन्यत्तु पूर्ववत् । एतदपेक्षयाप्युत्कृष्टानन्दोऽक्षरब्रह्मानन्द इत्याह **ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति ।** अत्र ब्रह्मशब्देन ' ब्रह्मविदाप्नोति पर 'मित्यत्रोक्तं साधनशेषभूतं ' ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा 'इत्यत्रानन्दमयस्य पुच्छत्वेनोक्तं चाक्षरब्रह्मैवोच्यते । केवलब्रह्मशब्देन गणितानन्दत्वेन चोक्तत्वात् । परब्रह्मपरत्वे तु परशब्देनैवोक्तं स्यादिति ज्ञेयम् । तथा चायमर्थः । ये शतं शतसंख्याविशिष्टा आनन्दाः प्रजापतेः सत्यलोकाधिष्ठातुस्त एव मिलिता एकत्वसंख्याविशिष्ट आनन्दोऽक्षरब्रह्मण इति । एवमक्षरब्रह्मण एकानन्दपरिमाणं कण्ठरवेण श्रुत्या प्रतिपादितमित्येतादृशैकानन्दमक्षरं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते । तथा चैतादृशशतानन्दविशिष्टमक्षरब्रह्मापीति गणितानन्दमेवाक्षरं ब्रह्मेति सिद्धम् । आनन्दमयशब्दोक्तं परं ब्रह्म त्वगणनाविषयीकृतैकानन्दत्वादपरिमितानन्दमेव । अक्षरब्रह्मणस्त्वपरिमितानन्दत्वे स एकः प्रजापतेरानन्द इत्युत्तरं ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द इति नोक्तं स्यात्, किन्तु ये ते शतं प्रजापतेरानन्दास्तादृगपरिमितानन्दब्रह्मण इत्येवोक्तं स्यात् । तदानन्दस्यापरिमितत्वादिति मनसि विभावनीयम् ।

केचित्तु पूर्वोक्तानन्दशतपरिमितैकानन्द उत्तरस्मिन् प्रतिपादितः, तादृगेकानन्दपरिमितशतानन्दवानुत्तर इति नात्र प्रतिपाद्यते, किन्तु पूर्वोक्तैकानन्दसजातीयशतानन्दमितैकानन्दवानेवोत्तर इति प्रतिपाद्यते। एवं चैकानन्दवदेवाक्षरब्रह्मेति गणितानन्दमक्षरं ब्रह्मेति वदन्ति ।

तत्र एवं सति 'ये ते शतमानन्दाः स एकोऽमुकस्यानन्द' इत्येव श्रुत्योक्तं स्यात् । तथा च सम्बन्धिपदवैयर्थ्यम् । तस्मात्सम्बन्धन्यपि शतानन्द इति दिक् । अन्यत्तु पूर्ववदेव व्याख्येयम् ।

एवमक्षरानन्दगणनापर्यन्तमेवानन्दगणना, न तु तदग्रस्थपरशब्दवाच्यपुरुषोत्तमानन्दस्यापि गणनेति ज्ञापयन्ती श्रुतिरानन्दगणनामुपसंहरति स यश्चायं पुरुषेत्यादिना ।

स यश्चा॑यं पुरु॑षे । स यश्चा॒सावा॑दि॒त्ये स एकः॑ । स य॑ ए॒वं॒वित् । अस्माल्लो॒कात्प्रे॒त्य । एतम॑न्न॒मय॑मा॒त्मान॒मुप॑संक्रा॒मति । एतं प्रा॑ण॒मय॑मा॒त्मान॒मुप॑संक्रा॒मति । एतं म॑नो॒मय॑मा॒त्मान॒मुप॑संक्रा॒मति । एतं वि॑ज्ञा॒न॒मय॑मा॒त्मान॒मुप॑संक्रा॒मति । एत॒मा॒न॒न्द॒मय॑मा॒त्मान॒मुप॑संक्रा॒मति । तद॒प्येष श्लोको॑ भवति । यतो॒ वाचो॒ निव॑र्तन्ते । अप्रा॑प्य॒ मन॑सा स॒ह । आन॒न्दं ब्रह्म॑णो वि॒द्वान् । न बिभेति॒ कुत॑श्चने॒तीति ।

पुन'र्ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः' ब्रह्मण इत्यनेनैवोक्तो योऽयं मयानुभूयमान आनन्द स पुरुषे पुरुषपदवाच्ये 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः । प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं । तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ' इत्येनेनोक्ते पुरुषत्रये सः, अथवादित्ये उपलक्षणविधया सर्वासामक्षरविभूतिनां च जीवानां च मध्ये यः प्रसिद्धोसौ मयानुभूयमानश्चानन्दः स एक एव अक्षरब्रह्मानन्द एव गणितानन्द एवेति यावदित्यर्थः । स य एवंविदिति । स यः कश्चन अतिदुर्लभभक्तिमार्गी भगवद्वरणविशिष्टत्वरूपभाग्यवानेवंवित् । अक्षरब्रह्मगणितानन्दं, परं ब्रह्म त्वगणितानन्दमिति जानाति स पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्राकृतात्प्रेत्यैतच्छरीरं त्यक्त्वा एतं प्रत्यक्षं अन्नमयमात्मानं प्राकृतशरीरविलक्षणमुपसंक्रामति । अथ चैतं प्राकृतप्राणमयविलक्षणं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । अथ चैतं प्राकृतमनोमयविलक्षणं मनोमयमात्मानं चोपसंक्रामति । अथचैतं विपश्चिच्छब्दवाच्यविविधभोगचतुरपरब्रह्मभोगयोग्यचातुर्यादिविशिष्टं 'विशेषणभेदाद्विशिष्टभेद' इति पूर्वजीवरूपविज्ञानमयाद्विलक्षणं विज्ञानमयशब्दवाच्यं जीवरूपविज्ञानमयमात्मानं चोपसंक्रामति । अथ च तदनन्तरमेतं निरवध्यानन्दात्मकमानन्दमयशब्दवाच्यपुरुषोत्तमरूपं 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मित्यत्र परशब्देनोक्तमानन्दमयमात्मानं चोपसंक्रामति, सर्वकामभोगार्थं प्राप्तो भवति, तेन सह सर्वकामभोगं करोतीत्यर्थः । यस्त्वक्षरब्रह्मागणितानन्दमिति जानाति स तु ' ये यथा मा'मिति प्रतिज्ञातो 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेश्चाक्षरब्रह्मण्येव लीनो भवतीति भावः । एवं प्राकृतशरीरत्यागानन्तरमलौकिकशरीरादिप्राप्तिरुक्तैव स्पष्टं, तदपि तथाप्येष वक्ष्यमाण एतादृशार्थप्रतिपादकः श्लोको भवतीत्याह—यतो वाच इति । यतः यस्मादानन्दाद्वाचो वचनानि मनसा सह संख्यातो धर्मतः स्वरूपतश्चाप्राप्याविषयीकृत्य निवृत्तानि भवन्ति । न वक्तुं न वा विचारयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । एतादृशं 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रपरशब्देनोक्तस्य 'सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र विपश्चिद्विशेषणविशिष्टब्रह्मशब्देन चोक्तस्य ब्रह्मणः परब्रह्मणः आनन्दं 'रसो वै स' इत्यु-

क्तो रसात्मकं यः कश्चन भाग्यवान् विद्वान् रसमर्यादया प्राकृतदेहत्यागोत्तरप्राप्तालौकिकदेहादिसंक्रमणोत्तरमनुभवेत्, स कुतश्चन कालकर्मस्वभावादिभ्यो न बिभेति, न भयं प्राप्नोतीत्यर्थः।

ननु अन्नमयादिसंक्रमणं क्रममुक्तिवद्विराड्देहस्यान्नमयादिप्राप्तिरूपत्वेनोच्यताम् ; अथ च यतो वाचो मनसा सहाप्राप्य निवर्तन्ते, एतादृशं ब्रह्मणोऽक्षरब्रह्मण आनन्दं प्रजापत्यानन्दशतपरिमितं विद्वाननुभवन् कुतश्चन न बिभेतीत्यक्षरब्रह्मपरतयैवायं श्लोकः कुतो न व्याख्यायत इति चेत् ।

अत्र पृच्छामः । किमनेन श्लोकेनोक्तो भयाभावो जीवन्मुक्तिदशायामाहोस्वित् परममुक्तिदशायां वाक्षरब्रह्मज्ञानिनिष्ठः प्रतिपाद्यते । तत्र नाद्यः । 'अस्माल्लोकात् प्रेत्ये'त्युक्तेर्जीवन्मुक्तिदशायां वक्तुमशक्यत्वात् । न द्वितीयः । परममुक्तौ त्वक्षरे अक्षरज्ञानिनो लीनत्वाच्छरीराभावात्तद्धर्मरूपभयाप्रसिद्धेः शरीररूपधर्मरूपभयाभावस्यापि प्रतिपादनानौचित्यात् । 'प्रसक्तस्यैव प्रतिषेध' इति सकलदर्शनसिद्धान्तात् । अस्मन्मते तु प्राकृतशरीरत्यागोत्तरमलौकिकशरीरप्राप्तेस्तत्र शरीरधर्मरूपभयप्रसक्तेस्तदभावो ह्यलौकिकशरीरे श्रुत्या बोध्यत इति नानुपपत्तिः काचित् । तस्मादस्मदाचार्यचरणोक्तः परब्रह्मपर एवार्थोऽस्य श्लोकस्य सर्वोपरि विराजतेतरामिति कृतं पल्लवितेन । यद्वा, अक्षरब्रह्मणः आनन्दमक्षरब्रह्मणि स्थितमानन्दं 'तद्धाम परमं मम'ति वाक्योक्तपुरुषोत्तमधामरूपाक्षरब्रह्मणि स्थितं पुरुषोत्तमानन्दमिति यावत्, तं विद्वाननुभवन् कुतश्चन न बिभेतीत्यर्थः । अत्र मदुक्तार्थे मत्कृतबर्हिर्मुखमर्दनप्रारम्भ एवोक्ता बृहद्वामनपुराणीया कथाप्यनुसन्धेया ।

अथ चैतादृशपरब्रह्मानन्दानुभववान् वैदिकविहितनिषिद्धकर्माकरणकरणजं पश्चात्तापमपि न करोतीत्याह ।

एत ँ ह वाव न तपति । किमह ँ साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति।

साधु साङ्गं यथा स्यात्तथा, किमहं वैदिकं नाकरवम्, न कृतवान्, येन मम स्वर्गाद्यभावः । किमहं पापं निषिद्धमकरवम् कृतवान्, येन मम दुःखप्राप्तिरित्येतं परब्रह्मानन्दानुभववन्तं न तपति न पश्चात्तापं जनयति, स्वर्गादेरप्यधिकानन्दस्य प्राप्तत्वात्, प्राकृतदुःखक्लेशस्याभावाच्चेति भावः । अत एव 'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति श्रीभागवतेप्युक्तम् । एवमक्षरब्रह्म गणितानन्दस्वरूपम्, परं ब्रह्म त्वगणितानन्दस्वरूपम्, अक्षरब्रह्मप्राप्तिस्त्वक्षरब्रह्मणि लयः, परब्रह्मप्राप्तिस्तु परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगः, अक्षरब्रह्मणि लये साधनं त्वक्षरब्रह्मज्ञानम्, परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगे साधनं तु भगवच्चरणजनितपरमभक्तिलाभ इत्यादिकं प्रतिपाद्योपसंहरति ।

स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुत इति ।

एवं पूर्वोक्तगणितानन्दागणितानन्दादिप्रकारेण एतेऽक्षरब्रह्मपरब्रह्मणी विद्वाननुभवति स जीवो भक्तिमार्गीय एव भवतीति स भक्तिमार्गीय आत्मानं स्वजीवात्मानं स्पृणुते, स्पृ

प्रीतिपालनयोरिति धात्वर्थानुसारात्, प्रीतियुक्तं ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगानन्दयुक्तं करोति । ब्रह्मदयानुभविनः सर्वकामभोगानन्दानुभवस्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मित्यनेनोपक्रम एवोक्तत्वात्, केवलाक्षरब्रह्मानुभविनस्तु 'ब्रह्म वेद तथैव भवती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मण्येव लयो भवतीति सिद्धान्तात् । तथा चोपक्रमे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्राक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मणा सह सर्वकामभोग उक्तः, स एवात्रोपसंहारेपि स्पष्टीकृत इत्युपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यता सम्पन्ना जातेति बोध्यम् । इममेवार्थं पुनरपि निःसन्दिग्धत्वाय प्रतिपादयन्ति ।

उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳस्पृणुते । य एवं वेद ।

उभे इति मिलिते एव एते ब्रह्मणी हि निश्चयेन यो भगवद्वरणात् महाभाग्यवत्त्वेन प्रसिद्ध एष महुद्धिमत्त्यक्ष एवं पूर्वोक्तप्रकारेण वेद जानाति, स भक्तिमार्गीयमात्मानꣳ स्वजीवात्मानं स्पृणुत इत्यर्थः ।

अत्रैवं विवेचनीयम् । आनन्दरूपं फलं हि पञ्चविधम् । ज्ञानमार्गीयं, उपासनामार्गीयं, मर्यादाभक्तिमार्गीयं, मर्यादापुष्टिमार्गीयं, शुद्धपुष्टिमार्गीयं च । तत्र ज्ञानमार्गीयं फलं तु 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मणि जीवस्य लयः । उपासनामार्गीयं फलं तु मन्त्राधिष्ठातृविभूतिस्वरूपे जीवस्य लयः । तत्र प्रमाणम्, 'आत्मानं गोपालोऽहमिति भावयेत्स एवाव्यक्तोऽनन्तो नित्यो गोपाल' इत्यादि गोपालतापनीगौतमीतन्त्रादयश्च । 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'ति वाक्यात् प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिर्मर्यादाभक्तिमार्गः, तत्फलं तु परब्रह्मणि जीवस्य प्रवेशः । तत्र प्रमाणं तु 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मित्यादि गीतावाक्यम् । श्रीशुकदेवादिवन्मर्यादाफलनिष्ठस्य निःसाधनभगवदनुग्रहेण प्रेमात्मकभक्तिलाभो मर्यादापुष्टिमार्गः । तत्फलमपि जीवस्य परब्रह्मप्रवेश एव । तत्रापि प्रमाणं 'भक्त्या मामभिजानाती'त्यादिवाक्यमेव । परन्त्वेतावान् विशेषः । मर्यादामार्गीयभक्तस्य साधनबललभ्यभक्तिसत्त्वात् कदाचिदेव परब्रह्मकृपायामवतारादिदशायामलौकिकशरीरप्राप्त्या परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगः, अवतारसमाप्तौ परब्रह्मण्येव पुनः प्रवेशः । मर्यादापुष्टिमार्गीयस्य तु निःसाधनस्य परब्रह्मविशेषकृपया यदा यदा अवतारस्तदा तदात्यलौकिकदेहप्राप्त्या परब्रह्मणा सह सर्वकामभोगः, अन्यथा विशेषकृपावैयर्थ्यापत्तेः । अवतारसमाप्तौ परब्रह्मण्येव पुनः प्रवेशः । मर्यादांशस्य प्रवेशपर्यवसायित्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गफलं तु सर्वदा ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगः । अत्रापि प्रमाणं 'सोऽश्नुते सर्वान् कामा'निति श्रुतिरेव कैमुतिकन्यायेन । श्रीभागवतेप्युक्तं 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिहेति सर्वमनवद्यम् ।

उपसंहरति । इत्युपनिषत् । इतिः समाप्तौ । उप समीपे निषीदति ब्रह्म यस्यां विद्यायां जातायां सा विद्योपनिषदुपचारात्तत्प्रतिपादको ग्रन्थोप्युपनिषदुच्यते । तथा च समाप्तेयमुपनिषदित्यर्थः ।

इति श्रीवल्लभाचार्यतत्सुतोत्तमभक्तिमान् । कृतवान् जयगोपालो भाष्यरत्नमिदं मुदा ॥१॥

विषयानुक्रमः ।

अस्य ग्रन्थस्यैकमेव पुस्तकं पं. गट्टूलालसंग्रहतः प्राप्तम् । तदाधारेणायं ग्रन्थो मुद्रितः । अस्यान्यद् पुस्तकं जामनगरस्थमंदिरहस्तलिखितपुस्तकसंग्रहे वर्तते । तत्रैवास्माभिरुपलब्धम् ।

ग्रन्थकर्ता स्वस्य परिचयो ग्रन्थारंभे एव कारित । श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानां प्रेरणया अस्य मुद्रणव्ययः पेटलादी रणछोडदास वनजीवनदास श्रोफेत्यनेन कृत. ।

एतत्पुस्तकलिखनं फूलचन्द्र नि॰ शाहेत्यस्योपकारः ।

मुंबई,
कृष्णजयन्ती १९७४.

मूलचन्द्र तेलीवाला.